विश्व द्रव्य विज्ञान

द्रव्य संग्रह

गद्य पद्यमय

कविताओं से संबर्धित द्वितीय संस्करण

मूल ग्रन्थकर्ता - **आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती**

कविवर लेखक एवं समीक्षक

आचार्य कनकनन्दी

द्रव्यदाता / ज्ञानदानी

ग्रंथांक - 74 प्रतियाँ - 1000

द्वितीय संस्करण - 2014 मूल्य - 201/-

प्राप्ति स्थान / सम्पर्क सूत्र

1. **धर्म-दर्शन सेवा संस्थान** द्वारा - **श्री छोटूलाल जी**
चन्द्रप्रभ दि० जैन मन्दिर आयड़
आयड़ बस स्टॉप के पास, उदयपुर (राजस्थान) 313 001
मो० 9783216418

2. **डॉ. नारायणलाल कछारा**
सचिव - धर्म-दर्शन सेवा संस्थान
55, रवीन्द्र नगर, उदयपुर (राजस्थान) 313 001
फोन : 0294-2491422, मो० - 92144 60622
ईमेल - nlkachhara@yahoo.com

प्रस्तावना
द्वितीय संस्करण

–आचार्य कनकनन्दी

यह ग्रंथ है 'द्रव्य संग्रह'...जो द्रव्यों का वर्णन करता (है)।
जीव पुद्‌गल व धर्म–अधर्म, आकाश काल का करता है।। (स्थायी)
    इससे ही बना है संपूर्ण ब्रह्माण्ड, तथाहि बना है प्रति ब्रह्माण्ड (भी)।
    अतः इसका नामकरण मैंने, किया है 'विश्व द्रव्य विज्ञान'।।
    इसमें वर्णन है अणु से ब्रह्माण्ड, जीवात्मा से परमात्मा भी है।
    छहों द्रव्यमय अकृतिम विश्व, जिसकी स्थिति अनादि अनंत है।। (1)
गति परिणत जीव पुद्‌गलों के, सहायक होता धर्म द्रव्य है।
स्थिति परिणत जीव पुद्‌गलों के, सहायक होता अधर्म द्रव्य है।।
छहों द्रव्यों को अवकाश दान, करता आकाश द्रव्य है।
छहों द्रव्यों के परिणमन हेतु, सहायक काल द्रव्य है।। (2)
    छहों द्रव्य ही अकृतिम शाश्वित, अनादि अनिधनमय है।
    इससे निर्मित ब्रह्माण्ड भी, अनादि अनिधन, अकृत्रिम है।
    पुद्‌गल ही मूर्तिक द्रव्य है, शेष द्रव्य अमूर्तिक है।
    जीव–पुद्‌गल होते शुद्ध–अशुद्ध, शेष द्रव्य सदा शुद्ध है।। (3)
अनादिकाल से जीव अशुद्ध हैं, कर्मक्षय से बने शुद्ध हैं।
शुद्ध के अनन्तर अशुद्ध न बने, सच्चिदानंद शुद्ध जीव है।।
अविभागी परमाणु होते (हैं) शुद्ध, स्कंध में बनते अशुद्ध हैं
स्कंध से पुनः परमाणु बनकर, बन जाते पुनः शुद्ध हैं।
    यह सब वर्णन इस ग्रंथ में, किया है नेमीचन्द्र आचार्य ने।

सूत्रबद्ध अनेकांत पद्धति से, छन्द बद्ध प्राकृतिक भाषा में।।
इसकी समीक्षा मैंने किया है, आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से।
जैन–अजैन देश–विदेशों के, शोधार्थी विद्यार्थी के हित में।। (5)

द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा, कविताओं से सहित है।
स्वेच्छा से प्रकाशन कर रहे हैं, डॉ. सम्पत सेठी भक्त है।।
मूलरतन चेरिटेबल ट्रस्ट द्वारा, यह प्रकाशन हो रहा है।। (6)

इनकी भावना व ज्ञानदान हेतु, मेरी मंगल शुभार्शीवाद है।
सहयोगी व स्वाध्यायी शोद्यार्थियों को, मेरा पावन शुभाशीर्वाद।।
विश्व में हर जीव भी सुखी हो, ऐसी मेरी है शुभ भावना।।
नमन मेरी नेमीचंद्र आचार्य को, मोक्ष प्राप्ति हेतु करूँ प्रार्थना।। (7)

आयड (उदयपुर–राज.) दि. 11.4.2014 रात्रि 10.58

(यह कविता डॉ. सम्पत सेठी की भावना से बनी)

''स्व-स्वरूप स्मरण''

आचार्य कनकनन्दी

(राग ओमकार स्वरूपा..., तुम दिल की ..., सायोनारा)

सत्य सनातन हे! आत्म स्वरूप,
बार-बार मैं तुझे नमूँ...,3।
द्रव्य भाव नोकर्म विवर्जित,
चिन्मय स्वरूप तुझे नमूँ...,3।। (ध्रु.)
हे! आत्मविश्वास सम्यग्दर्शन,
बार-बार मैं तुझे नमूँ....3।।
अनन्तानुबन्धी व मोह विरहित,
चिन्मय स्वरूप तुझे नमूँ...3।। (1)
हे! सम्यग्ज्ञान वीतराग-विज्ञान,
पुनः पुनः मैं तुझे नमूँ...3।
स्व पर बोधक राज विवर्जित,
चिन्मय स्वरूप तुझे नमूँ...3 ।। (2)
हे! सम्यक्चारित्र कषाय रहित,
सतत रूप मैं तुझे नमूँ...3।
समता स्वरूप मोह क्षोभ रहित,
चिन्मय स्वरूप तुझे नमूँ...3। (3)
तव स्मरण व तव ही शरण,
तब आचरण ही मम स्वरूप...3।
तव आदि मध्य अन्त मैं हूं,
ज्ञान-ध्यान मोक्ष स्वरूप तू... तुझे नमूँ...।। (4)
निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग तू,
व्रत समिति व दश धर्म तू...।
आराधना समाधि (व) आत्मस्वरूप तू...।
'कनकनन्दी' के सर्वस्व तू... तुझे नमूँ...3।। (5)

''सर्वज्ञ उपदिट सत्य ही परम सत्य''

(राग–आत्मशक्ति से ओतप्रोत...)

देखो!देखो! सत्य को देखो ... जो विज्ञान में /(से) अज्ञात (है)।।
साधारण जन से तथा अज्ञात ... तथापि सर्वज्ञ से ज्ञात (है)।।
विज्ञान अभी भी नहीं जानता ... शुद्ध परमाणु का रूप (है)।।
ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के कारण ... तथा ब्रह्माण्ड स्वरूप (है)।। (1)

पांच प्रतिशत (5%) भौतिक जानता ... नहीं जाने अभौतिक है।
जीव (की) उत्पत्ति कारण न जानता .. नहीं जाने जीव स्वरूप है।।
कहाँ से जीव पृथ्वी में आये ... किससे बनता जीव है।
मृत्यु के बाद कहाँ जायेगा ... विश्व में कितने/(कहाँ–कहाँ) जीव है। (2)

साधारण जन संकीर्ण होते ... स्वार्थ में (ही) लवलीन है।
खाना पीना सोना जागना ... प्रजनन मरना काम है।
सर्वज्ञ सर्वदर्शी ही जानते ... विश्व के हर सत्य हैं।
चेतनाचेतन मूर्तिकामूर्तिक ... व्यवहार परम सत्य है। (2)

राग द्वेष मोह रहित वे होते ... होते सर्वजीव उपकारी है।
उनके द्वारा उपदेश सत्य ही ... मानने जानने के योग्य है।।
सत्य को जानो सत्य पहचानो ... उपलब्धि करो सत्य है।
सत्य की प्राप्ति करने हेतु ...'कनक' करे सदा प्रयत्न है।। (4)

''जैन धर्म की अतिविशेषतायें''

चालः....(तुम दिल की धड़कन ...., क्या मिलिये...)

जैन धर्म की अहिंसा प्यारी ... सर्व जीव रक्षा करने वाली।
भाव अहिंसा है समता वाली ... द्रव्य अहिंसा है रक्षा वाली। ध्रु.

अनेकान्त है सिद्धांत न्यारा ... वस्तु स्वभाव सहित वाला।
अनन्त पक्ष सहित वाला ... सापेक्ष सिद्धांत वैश्विक वाला।।
स्याद्वाद कथन करने वाला ... सापेक्ष कथन सहित वाला।
सप्त भंगों से सहित वाला ... अनन्त सप्त भंग वाला।। (1)

अपरिग्रह है सिद्धांत प्यारा ... सामाजिक न्याय सहित वाला।
अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह रिक्त ... पर्यावरण सुरक्षा युक्त ।।
वस्तु व्यवस्था है प्राकृतिक वाली ... द्रव्य की प्रकृति सहित वाली।
इसी से बनती विश्व व्यवस्था ... प्राकृतिक शाश्वतिक दशा।। (2)

कर्म सिद्धांत है संसार-दशा ... द्रव्य भाव नोकर्म की दशा।
संसार भ्रमण इसी से होता ... कर्म रहित मोक्ष की दशा।।
मोक्षमार्ग है रत्नत्रयमय ... आत्मविश्वास ज्ञान वृत्तमय।
अनन्त वैभव इसी से मिलता ...'कनकनन्दी' तो इसे ही चाहते।।

''मिथ्या धर्म एवं सच्चा धर्म''

चालः छोटी- छोटी गैया (छोटी-छोटी मैया)

रुढ़िवादी धार्मिक जो जन होते ... रीति-रिवाज को ही धर्म मानते।
कट्टर संकीर्ण जब वे होते ... ईर्ष्या द्वेष घृणा सहित होते।। ध्रु.।।
घृत-कुम्भ यथा न होता घृत ... रीति-रिवाज तथा न होता धर्म।
कट्टर संकीर्ण तो धर्म से ब्राह्य ... ईर्ष्या द्वेष घृणा कर्म अग्राह्य।। (1)

कुम्भ में घृत का धारण होता ... धार्मिक रीति-रिवाज तथाहि होता।
दृढ़ता व मर्यादा धर्म में होती ... दो किनारों में यथा नदी बहती।। (2)
सत्यनिष्ठा समता शुचिता दया ... परोपकार सेवा जीवों की रक्षा।
संयम सदाचार अचौर्य शील ... धैर्य सन्तोष है धर्म के मूल ।। (3)

मूल विहीन वृक्ष नही टिकता ... फूल-फल शाखा से युक्त न होता।
तथाहि सत्यनिष्ठा आदि के बिना ... धर्म न होता तथा शान्ति न देता।।
रुढ़िवादी धार्मिक जो जन होते ... रीति-रिवाज से ही पुण्य चाहते।
पुण्य से भी सुख-समृद्धि चाहते... बिना भाव-व्यवहार से मोक्ष चाहते।।

ऐसे जो होते धार्मिक जन ... धर्म को मानते मुफ्त सामान।
राग द्वेष मोह प्रमुख होते ... रीति-रिवाज ही धर्म हो जाते।। (6)
खाना-पीना मजा करना चाहते ... दिखावे का धर्म वे करते।
संकीर्ण स्वार्थनिष्ठ लोभी वे होते ... अवचेतनसंतोषी वे होते।। (7)

धर्म तो आत्मिक शुचि स्वरूप ... धर्म तो आत्मिक शान्ति स्वरूप।
इसी हेतु ही धर्म आचरणीय ... 'कनक' को ऐसा धर्म ही प्रिय।। (8)

''मेरा परम स्वरूप/सोऽहंभाव''

आध्यात्मिक कविता

चालः 1. सायोनारा... 2. शत शत वन्दन...
3. इक परदेशी तेरा ... 4. ॐ कार स्वरूपा

आचार्य कनकनन्दी

आकाश से भी अधिक विशाल, अनन्त ज्ञात/(शक्ति) युक्त हूँ मैं।
अणु से भी अधिक सूक्ष्म, अमूर्तिक स्वभावी हूँ मैं।
प्रकाश से भी अधिक गति, राजू-चौदह गति मेरी।
सुमेरू से भी अधिक स्थिर, टंकोत्कीर्ण ध्रुवरूप/(ज्ञायक) हूँ मैं।
सूर्य से भी अधिक प्रकाशी, ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ मैं।
मधुर से भी अधिक मधुर, ज्ञानामृत स्वरूप हूँ मैं।
कमल से भी अधिक निर्लिप्त, वीतरागी स्वरूप हूँ मैं।
अग्नि से भी अधिक दाहक, कर्मदहन स्वरूप हूँ मैं।
वज्र से भी अधिक कठोर, ध्रुव स्वभावी हूँ मैं।
वायु से भी अधिक लचीला, उत्पाद व्यय/(अगुरुलघु गुण) स्वरूप हूँ मैं

रत्न से भी अधिक मूल्यवान, रत्नत्रय स्वरूप हूँ मैं।
चक्रवर्ती से भी वैभवशाली हूँ मैं, आत्मवैभव सम्पन्न हूँ मैं।
इन्द्र से भी शक्तिशाली हूँ मैं, अनन्तवीर्य सम्पन्न हूँ मैं।
काल से भी अपराजयी हूँ मैं, अजर-अमर अविनाशी हूँ मैं।

मैं हूँ सच्चिदानन्द स्वरूप, अक्षय अनन्त गुणमय हूँ मैं।
मौलिक स्वतंत्र परम सत्य हूँ, 'कनक' चैतन्य द्रव्य रूप हूँ मैं।

''स्व-विश्व दर्शन''

(स्व-परिज्ञानार्थे चाहिये अनन्त ज्ञान)

चालः 1. तुम दिल की धड़कन ..., 2. छोटी-छोटी गैया

आचार्य कनकनन्दी

स्व-विज्ञान है विश्व विज्ञान ... जिसमें समाहित समस्त ज्ञान।
आत्मा-परमात्मा व कर्म का ज्ञान ... संसार-भ्रमण व मोक्ष का ज्ञान।।
जो एक जानता है वह सर्व जानता ... जो सर्व जानता है वह एक जानता।
एक मे होते (हैं) अनन्त गुण-पर्याय ... एक के ज्ञानार्थे अनन्त ज्ञान।। (1)

मैं सच्चिदानन्दमय जीव-द्रव्य ... अनन्त-गुण-पर्याय सहित।
अनन्तकाल से है मेरा अस्तित्व ... उत्पाद-व्यय व ध्रौव्य सहित।।
अनन्तकर्मों से हूँ मैं आबद्ध ... अनन्त जन्म-मरण से सम्बंध।
चौरासी लाख योनि व चर्तुगति में ... अनन्त-भ्रमण किया हूँ विश्व में।। (2)

द्रव्य-क्षेत्र-काल व भव-भाव में ... अनन्त-परिवर्तन किया विश्व में।
इसके भी ज्ञानार्थे अनन्त ज्ञान ... मति-श्रुत नहीं है अनन्तज्ञान।।
मैं केवल नहीं हूँ शरीर मात्र ... इन्द्रिय मस्तिष्क मन मात्र।
सत्ता-सम्पत्ति मात्र नहीं हूँ मैं ... सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ मैं। (3)

स्व स्वरूप की प्राप्ति के हेतु ... रत्नत्रय की साधना हेतु।
आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र हेतु ... आध्यात्म ज्ञान के प्रमुख हेतु।।
इन सबका ज्ञान है स्वयं का ज्ञान ... इसी हेतु चाहिये अनन्त ज्ञान।
इसी से बनता है मानव ज्ञानी ... 'कनक' बनना चाहे आत्मज्ञानी।। (4)

संदर्भित ग्रन्थ सूची

1) स्वतंत्रता के सूत्र – (आचार्य कनकनन्दी की मोक्ष शास्त्र की समीक्षा)

2) गोम्मट्टसार जीवकाण्ड – आ. नेमिचन्द्र

3) गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड – आ. नेमिचन्द्र

4) सन्मति सूत्र – आ. सिद्धसेन

5) सभाष्यतत्वार्थाधिगम सूत्र – आ. उमास्वामी (श्वेताम्बर)

6) बृहत् नयचक्र – आ. माइल्ल धवल

7) आलापपद्धति – आ. देवसेन

8) भाव संग्रह – आ. देवसेन

9) त्रिलोकसार – आ. नेमिचन्द्र

10) समाधि तंत्र – आ. पूज्यपाद

11) इष्टोपदेश – आ. पूज्यपाद

12) प्रवचन सार – आ. कुन्दकुन्द देव

13) समयसार – आ. कुन्दकुन्द देव

14) पंचास्तिकाय – आ. कुन्दकुन्द देव

15) नियमसार – आ. कुन्दकुन्द देव

16) बारस अणुपेक्खा – आ. कुन्दकुन्द देव

17) अष्ट पाहुड – आ. कुन्दकुन्द देव

18) रत्नकरण्डक श्रावकाचार – आ. समन्तभद्र स्वामी

19) योगसार – आ. योगीन्द्र देव

20) आत्मानुशासन – आ. गुणभद्र स्वामी

21) वृहत् प्रतिक्रमण – गणधर गौतम

22) ध्यान का वैज्ञानिक विश्लेषण	– आचार्य कनकनन्दी
23) कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन	– आ. कनकनन्दी
24) पुण्य पाप मीमांसा	– आ. कनकनन्दी
25) अनेकान्त दर्शन	– आ. कनकनन्दी
26) विश्व विज्ञान रहस्य	– आ. कनकनन्दी
27) उत्तराध्ययन सूत्र	– श्वे. जैन ग्रंथ
28) न्यायदीपिका	– श्रीमदभिनव धर्मभूषण यति
29) तिलोयपण्णत्ति	– आ. यतिवृषभ
30) पुरुषार्थ सिद्धिउपाय	– आ. अमृतचन्द्र
31) ज्ञानार्णव	– आ. शुभचन्द्र
32) पतञ्जलियोग दर्शन	– महर्षि पतञ्जलि
33) भगवत् गीता	– नारायण श्रीकृष्ण
34) हरिवंश पुराण	– आ. जिनसेन
35) स्वयंभू स्तोत्र	– आ. समन्तभद्र
36) भावना द्वात्रिंशतिका	– आ. अमितगति
37) तत्त्वार्थ राजवार्तिक	– आ. अकलंक देव
38) धवला	– आ. वीरसेन
39) सर्वार्थसिद्धि	– आ. पूज्यपाद
40) तत्त्वार्थसार	– आ. अमृतचन्द्र
41) मूलाचार	– आ. वट्टकेर (आ. कुन्दकुन्द देव)

विषय सूची

1. स्व. स्वरूप स्मरण 5
2. सर्वज्ञ उपदिष्ट सत्य ही परम सत्य 6
3. जैन धर्म की अति विशेषताएँ 7
4. मिथ्या धर्म एवं सच्चा धर्म 8
5. मेरा परम स्वरूप/सोऽहं भाव 9
6. स्व-विश्व दर्शन 10

अध्याय - I प्रथम महाधिकार

विश्व के मूलभूत षट् द्रव्य

1. मंगल स्मरण 28
2. जीव के नौ विशेष गुण 31
3. जीव का स्वरूप 33
4. उपयोग तथा दर्शनोपयोग के भेद 44
5. ज्ञानोपयोग के भेद 47
6. अशुद्ध एवं शुद्ध जीव के उपयोग 52
7. निश्चय से जीव अमूर्त व्यवहार से जीव मूर्त 53
8. कर्त्ता के विभिन्न रूप 56
9. भोक्ता के विभिन्न रूप 62
10. जीव का प्रदेशत्व स्वभाव 63
11. संसारी जीव के भेद-स्थावर एवं त्रस 67
12. पृथ्वीकायिक आदि जीवों का आकार 70
13. संज्ञी, असंज्ञी, बादर, सूक्ष्म आदि भेद 75
14. जीव का अशुद्ध एवं शुद्ध स्वरूप 78
15. मार्गणा 79
16. गुणस्थान का सामान्य लक्षण 84
17. गुणस्थानों के चौदह भेद 84
18. जीव के सिद्ध स्वरूप एवं उर्ध्वगमन स्वभाव 91

19. अजीव द्रव्य के भेद-प्रभेद 98
20. मूर्त-अमूर्त का लक्षण 100
21. पुद्गल की विभाव पर्यायें 101
22. गति माध्यम द्रव्य 108
23. स्थिति माध्यम द्रव्य 111
24. अवकाश प्रदाता द्रव्य 114
25. लोकाकाश एवं अलोकाकाश (विश्व एवं प्रति विश्व) 114
26. निश्चय काल एवं व्यवहार काल 119
27. निश्चय काल का क्षेत्र एवं उसकी संख्या 124
28. अस्तिकाय एवं अनस्तिकाय 130
29. अस्तित्व एवं काय की परिभाषा 131
30. द्रव्यों की प्रदेश-संख्या 133
31. एक प्रदेशी पुद्गल को अस्तिकाय कहने का कारण 137
32. प्रदेश का लक्षण एवं उसकी शक्ति 141
33. षट् द्रव्यों का उपसंहार (चूलिका) 143
34. अभ्यास प्रश्न 156

कविता

1. विभिन्न विकासवाद 160
2. षट् द्रव्यमय वैश्विक व्यवस्था एवं मोक्षावस्था 162
3. विश्व की व्यवस्था 163
4. सत्य परमेश्वर का विश्व रूप एवं स्व परम सत्य 165
5. अणु हमें शिक्षा देता 165
6. आकाश हमें सिखाता है 166
7. धर्म-अधर्म द्रव्यों का वर्णन 167
8. काल की आत्मकथा 168
9. अनेकान्त वंदन (स्याद्वाद का स्वरूप) (*Master Theory*) 170
10. अनेकान्त-स्याद्वाद का स्वरूप 171
11. प्रतिपक्ष (सापेक्ष अनेकान्त) से पक्ष का 173

12. श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम सत्य 174
13. जैन धर्म में वर्णित महासत्ता एवं अवान्तर सत्ता 175
14. जैन धर्म में वर्णित एकीकृत सिद्धांत 176
15. मोक्षमार्ग एवं मोक्ष 177
16. ब्रह्माण्ड की कहानी 178
17. गणित मेरा नाम है सबसे बड़ा काम है 179
18. प्राचीन एवं आधुनिक वैज्ञानिकों का संक्षिप्त परिचय 181
19. विज्ञान के अंधकार पक्ष 183
20. विज्ञान की उज्ज्वल गाथा 184
21. चेतनमय जीवों में भी होते हैं अनेक अचेतन गुण 186
22. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः 187
23. ज्ञान-ज्ञेय-ध्येय-हेय 188
24. नय के भेद-प्रभेद 189
25. सच्चिदानंद का रहस्य 190
26. जैन धर्म का अति विशेषताएँ 191

अध्याय – II द्वितीय महाधिकार

विश्व के सप्त तत्त्व एवं नव पदार्थ

1. सप्त तत्त्व नव पदार्थ 194
2. भावास्रव एवं द्रव्यास्रव 195
3. भावास्रव की परिभाषा 196
4. द्रव्यास्रव की परिभाषा एवं भेद 200
5. भावबंध एवं द्रव्य बंध 201
6. बंध के भेद एवं कारण 202
7. भाव संवर एवं द्रव्य संवर 216
8. भाव संवर के भेद 220
9. अनेक विध चारित्र 232
10. संयम (चारित्र) का लक्षण 232
11. संयम की उत्पत्ति का कारण 232

12. निर्जरा की परिभाषा एवं भेद 235
13. मोक्ष की परिभाषा एवं भेद 239
14. पुण्य एवं पाप के स्वरूप एवं प्रभेद 247
15. पुण्य प्रकृतियाँ 253
16. पाप प्राकृतियाँ 254
17. पुण्य के फल 254
18. अभ्यास प्रश्न 256
कविता
1. भाव से भाग्य एवं भावी निर्माण 257
2. हर क्षेत्र में भाव की मुख्यता क्यों? 258
3. सुख प्राप्ति के उपाय 259
4. अशुभ त्यागो शुभ के शुद्ध बनो 260
5. सिद्ध (शुद्धात्मा) गुणों का करूँ यथायोग्य अनुकरण 261
6. आत्मविश्वास से मिलती सफलता 263
7. आत्मविश्वास है सर्वोदय का मूल 264
अध्याय – III तृतीय महाधिकार
1. स्वाधीन का मार्ग 267
2. व्यवहार एवं निश्चय मोक्षमार्ग 267
3. निश्चय से रत्नत्रयधारी आत्मा ही मोक्ष मार्ग 270
4. सम्यग्दर्शन का स्वरूप 272
5. सम्यग्ज्ञान का स्वरूप 278
6. सत्तावलोकन रूप दर्शन का स्वरूप 289
7. छद्मस्थ एवं केवली के दर्शनोपयोग का क्रम 290
8. व्यवहार चारित्र का स्वरूप 295
9. निश्चय चारित्र का स्वरूप 301
10. ध्यान का कार्य एवं उसके लिए प्रेरणा 303
11. ध्याता का स्वरूप 306

12. पदस्थ ध्यान के कुछ मंत्र 310
13. अरहंत भगवान् का स्वरूप 313
14. सिद्ध भगवान् का स्वरूप 313
15. सिद्धों का सुख 315
16. आचार्य भगवन्त का स्वरुप 316
17. उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप 317
18. साधु परमेष्ठी का स्वरूप 318
19. ध्येय, ध्याता, ध्यानादि का स्वरूप 319
20. परमध्यान के कारण 320
21. ध्याता और ध्यान सामग्री 322
22. ग्रंथकर्त्ता की नम्रता 329
23. अभ्यास प्रश्न 331
24. लघु द्रव्यसंग्रह 333

कविता

1. परम विकास के लिए आध्यात्मिक रहस्य के सूत्र 339
2. कर्मबंध एवं मोक्ष के कारण 340
3. विश्व के हर कण से ज्ञान मिलता 341
4. सत्य परिज्ञान की श्रेष्ठतम पद्धतियाँ 343
5. स्व–आकर्षण के सूत्र 344
6. भाव ही भाग्य एवं भावी निर्माता 345
7. सुखी होने के उपाय 346
8. दुःख एवं सुख के परम उपाय 348
9. जीवों के विश्वरूप दर्शन 349
10. मेरे भावी एवं भावात्मक लक्ष्य 350
11. वैश्विक एकता एवं सर्वोदय 351
12. सर्वोदयी भारतीय संस्कृति 352
13. आचार्यश्री के संक्षिप्त व्यक्तित्व एवं कृतित्व 353

प्राक्कथनम्

प्रत्येक जीवन दुःख से निवृत्त होकर सुखी होना चाहता है, मृत्यु से निवृत्त होकर अमृत तत्त्व की उपलब्धि चाहता है, अज्ञान अंधकार से निवृत्त होकर ज्ञान रूपी प्रकाश में प्रवेश करना चाहता है क्योंकि दुःख, मृत्यु एवं अज्ञानता जीव के लिए दुःखदाई एवं हेय है। दुःखादि जीव के वैभाविक भाव होने के कारण इसमें जीव के सुखादि स्वाभाविक भाव का अभाव रहता है। प्राकृतिक, स्वाभाविक, निर्मल भाव ही सत्य-शिव एवं सुंदर है क्योंकि स्वभाव ही सत्य है और वही कल्याणकारी, मंगलप्रद एवं हितकर है इसलिए प्रत्येक जीव सुख चाहता है एवं दुःख से घबराता है। इस अंतरंग सुखेच्छा की प्रवृत्ति ही जीव को सुख प्राप्त करने के विभिन्न उपायों का शोध-बोध एवं उपलब्धि के लिए प्रेरित करती है। इससे ही विभिन्न ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, मत, संप्रदाय आदियों का आविष्कार एवं प्रचार-प्रसार हुआ है परंतु जब तक सत्य का यथार्थ विश्वास, यथार्थ ज्ञान तथा परिपालन नहीं होता है तब तक जीव को अक्षय-अनंत, सुख, ज्ञान, शक्ति, विभूति की उपलब्धि नहीं हो सकती है। इसलिए अनंत सत्य के ज्ञाता-दृष्टा, उपदेष्टा केवलियों ने संसार के दुःखी जीवों को अनंत सुख प्राप्त करने का जो स्वतंत्रता का मार्ग है, उसका प्रतिपादन करते हुए कहा है- ''सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः'' अर्थात् स्व-पर का यथार्थ विश्वास, परिज्ञान एवं स्व-स्वरूप में आचरण ही मोक्ष का मार्ग है। इस ही विषय को नेमिचंद सिद्धांत देव ने द्रव्य संग्रह (विश्व द्रव्य विज्ञान) में संक्षिप्त परंतु सांगोपांग वर्णन किया है। इस द्रव्य संग्रह का आधुनिक अपरनाम मैंने 'विश्व द्रव्य विज्ञान' रखा है क्योंकि इसमें विश्व के मूलभूत (1) जीव (2) पुद्गल (3) धर्म (4) अधर्म (5) आकाश (6) काल द्रव्यों का सांगोपांग संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

प्रथम अध्याय में छहों द्रव्य, उनके धर्म, उनके परस्पर उपकार भी करते हैं। इसलिए इन दोनों की विभिन्न शुद्ध एवं अशुद्ध पर्यायों का भी वर्णन किया गया है। जीव एवं पुद्गल द्रव्य वैभाविक परिणमन का भी

वर्णन किया गया है। जीव विश्व का सर्वश्रेष्ठ चैतन्य वैभव युक्त द्रव्य है। षट् द्रव्य में जीव में ही कर्तृत्व गुण है। सबसे अधिक चैतन्य के वैभव जीव में होने के कारण जीव विश्व में ईश्वर है। पुद्‌गल भौतिक जगत् का निर्माण करने के लिए कारणभूत है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र, निहारिकाएँ तथा जीव के शरीर आदि पुद्‌गल से ही निर्मित हैं। धर्म द्रव्य गतिशील जीव एवं पुद्‌गल को गति करने के लिए उदासीन सहायक हैं। अधर्म द्रव्य गति पूर्वक स्थिति करते हुए जीव एवं पुद्‌गलों को स्थिति करने में उदासीन सहायक है, आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यों को अवकाश देता है। काल द्रव्य समस्त द्रव्यों के परिणमन के उदासीन कारण है। इस अध्याय में पुद्‌गल की शब्दादि पर्यायों के वर्णन में आधुनिक भौतिक विज्ञान एवं रासायनिक विज्ञान का वर्णन है।

द्वितीय अध्याय में सप्त तत्त्व तथा नव पदार्थ का विभिन्न दृष्टिकोण से वर्णन है एवं नव पदार्थ का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

1. चैतन्य युक्त द्रव्य को जीव द्रव्य कहते हैं।
2. चैतन्य से रहित द्रव्य अजीव है, परंतु इस प्रकरण में पौद्‌गलिक कर्म को ग्रहण किया गया है।
3. पौद्‌गलिक कर्मों का आगमन होना आस्रव है।
4. जीव एवं कर्म का संश्लेष संबंध होना बंध है।
5. कर्मों का आना रुक जाना संवर है।
6. बंधे हुए कर्मों का एक देश निकल जाना निर्जरा है।
7. कर्मों का संपूर्ण रूप से आत्मा से पृथक् हो जाना मोक्ष है।
8. शुभ भावों से कर्मों का प्रशस्त रूप परिणमन होना पुण्य है।
9. अशुभ भावों से कर्मों का अप्रशस्त रूप परिणमन करना पाप है।

उपर्युक्त सप्त तत्त्व तथा नवपदार्थ में से जीव एवं अजीव (पुद्‌गल कर्म) तो द्रव्य एवं तत्त्व भी हैं परंतु आस्रव आदि तत्त्व या पदार्थ है, क्योंकि आस्रव आदि जीव एवं अजीव की विभिन्न अवस्थायें हैं। मोक्ष भी एक अवस्था इसलिए है कि यह अवस्था बंध से मुक्त के बाद होती है। क्योंकि

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से जीव बंधन एवं मोक्ष से रहित है।

तृतीय महाधिकार में स्वाधीनता (स्वतंत्रता, मोक्ष, मुक्ति) प्राप्त करने के उपायों का वर्णन है। व्यवहार रत्नत्रय मोक्ष मार्ग है तो रत्नत्रय से युक्त आत्मा ही निश्चय से मोक्ष मार्ग एवं मोक्ष है। क्योंकि रत्नत्रय ही मोक्ष मार्ग एवं मोक्ष स्वरूप है रत्नत्रय आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में नहीं रहता है। इस अध्याय में निश्चय एवं व्यवहार मोक्ष मार्ग की परिभाषा के साथ-साथ दोनों मोक्ष मार्ग के लिए कारणभूत ध्यान का सूत्र रूप में सांगोपांग वर्णन किया गया है। पदस्थ ध्यान में पंचपरमेष्ठी का भी सुंदर वर्णन किया गया है।

द्रव्य संग्रह की वर्णन प्रणाली अन्य ग्रंथ की वर्णन प्रणाली से कुछ विशेषता लिए हुए है। इसमें एक ही गाथा में विभिन्न दृष्टिकोण से एक ही विषय का प्रतिपादन बहुत ही चमत्कारिक एवं भावपूर्ण ढंग से किया गया है। अन्य-अन्य आचार्यों ने प्रायशः अलग-अलग अध्याय में या अलग-अलग सूत्र, गाथा या श्लोक में निश्चय एवं व्यवहार नय का समन्वय किया है, परंतु नेमिचंद्र सिद्धांत देव ने एक ही गाथा में समन्वय करके एक अनुकरणीय अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया है। पुरुषार्थ सिद्धि उपाय में अहिंसा की सिद्धि तत्त्वार्थ सूत्र के पंचम अध्याय में द्रव्यों का वैज्ञानिक वर्णन प्रवचनसार में ज्ञान, ज्ञेय एवं चारित्र का प्रतिपादन, सागार धर्मामृत में श्रावकाचार का वर्णन जैसे बेजोड़ है उसी प्रकार द्रव्य संग्रह की निश्चय व्यवहारात्मक पद्धति बेजोड़ है। इस ग्रंथ के अध्ययन करने से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ उसके अनुसार यह ग्रंथ ''गागर में सागर'' की उक्ति को चरितार्थ करता है।

इस ग्रंथ को मेरा मन मुग्ध होकर ''ज्ञान की चाबी'' मानता है। इसमें द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग के साथ-साथ प्रकारांतर से प्रथमानुयोग का वर्णन भी किया गया है।

''कर्तृत्व से व्यक्तित्व'' का परिज्ञान होता है इस न्याय के अनुसार इस ग्रंथ के कर्त्ता नेमिचंद सिद्धांत चक्रवर्ती महान् थे स्वतः सिद्ध हो जाता है तथापि ऐसे महान् आचार्य ने स्वयं को अल्पश्रुत ज्ञानी बताकर नम्रता का एक महान् उदाहरण प्रस्तुत किया है। उसका अनुकरण हमें भी करना चाहिए।

महान् ग्रंथ द्रव्य संग्रह केवल जैन धर्म की अमूल्य निधि या कृति नहीं है परंतु विश्व की अमूल्य निधि तथा ज्ञान की कुंजी है। इसमें जो ज्ञान-विज्ञान के अनेक बीज भरे पड़े हुए हैं, उसको आधुनिक वैज्ञानिक वातावरण में अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलीभूत करने की महती भावना मेरे मन में है। इस उद्देश्य को लेकर मैंने- ''विश्व द्रव्य विज्ञान'' (द्रव्य संग्रह की आधुनिक समीक्षा) की रचना की है। इसमें मैंने संदर्भ के अनुसार विभिन्न दर्शनों के साथ-साथ विभिन्न आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की संयोजना की है। जैन धर्म को आधुनिक युगानुकूल बनाने के लिए यह मेरा अन्य-अन्य प्रयासों में से एक है। अभी तक मेरी प्रायः 73 किताबें विभिन्न भाषा में प्रकाशित हो गयी हैं, जिनमें धर्म, दर्शन, विज्ञान, स्वास्थ्य, राजनीति, ध्यान, मनोविज्ञान, स्वप्न, शकुन, मंत्र, आदि गर्भित है। स्वतंत्रता के सूत्र (मोक्ष शास्त्र) की रचना मैंने इसी उद्देश्य से की थी, जिसका समादर एवं आवश्यकता दिनोंदिन बढ़ रही है। मैं आधुनिक नयी पीढ़ी को आधुनिक प्रणाली से आगे बढ़ाने के लिए धार्मिक कक्षायें लेता हूं एवं शिविर में पढ़ाता हूं। इस उद्देश्य से अभी तक (1) धर्म दर्शन विज्ञान प्रवेशिका पुष्प 1, 2, 3 (2) स्वतंत्रता के सूत्र प्रकाशित हो गए हैं। अभी यह ''विश्व द्रव्य विज्ञान'' प्रकाशित हो रहा है। इसके माध्यम से धाार्मिक व्यक्ति धर्म को जाने, माने एवं प्राप्त करे तथा शोध विद्यार्थी भी धर्म को वैज्ञानिक बनावें एवं विज्ञान को धार्मिक बनावें। इस पुस्तक के लेखन कार्य में बिजौलियां की मेरी धार्मिक शिष्याओं का योगदान रहा है वे हैं कु. रीना कु. मीना कु. मैना, कु. संगीता एवं कु. आरती जैन।

''विश्व द्रव्य विज्ञान'' का अध्ययन करके अखिल विश्व के भव्य प्राणी ''विश्व द्रव्य विज्ञान'' के ज्ञाता, दृष्टा तथा अमृत तत्त्व के भोक्ता बनें ऐसी महती भावना के साथ-

उपाध्यय कनकनंदी

प्रथम संस्करण १९९५

नय परिज्ञान

इस ग्रंथ में जो विभिन्न नय प्रणाली में वर्णन किया है, उसके परिज्ञान के लिए कुछ नयों का दिग्दर्शन नीचे आलाप पद्धति के अनुसार कर रहा हूं-

द्रव्यार्थिकनय – द्रव्य को ही ग्रहण करना ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिकनय कहलाता है। (पृ. 124)

शुद्ध द्रव्यार्थिकनय – शुद्ध द्रव्य को ही ग्रहण करना जिस नय का प्रयोजन है वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहलाता है।

अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय – अशुद्ध द्रव्य को ही ग्रहण करना जिस नय का प्रयोजन है वह अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहलाता है।

अन्वयद्रव्यार्थिक नय– जो नय अस्तित्व, वस्तुत्व आदि सामान्य गुणों के अन्वयरूप से ये द्रव्य हैं, इस प्रकार व्यवस्था करता है उसको अन्वयद्रव्यार्थिक नय कहते हैं।

स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय – स्वद्रव्यादिक को ग्रहण करना ही जिस नय का प्रयोजन है वह स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।

परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय– परद्रव्यादिक को ग्रहण करना ही जिस नय का प्रयोजन है वह परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय कहलाता है।

परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नय– परम भाव को ग्रहण करना जिस नय का प्रयोजन है वह परम भावग्राहक द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।

इति द्रव्यार्थिकस्य – इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय की व्युत्पत्ति कही।

पर्यायार्थिकनय – पर्याय को ग्रहण करना ही जिस नय का प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

अनादिनित्य पर्यायार्थिकनय – अनादिनित्य पर्यायार्थिक को ग्रहण करना ही जिस नय का प्रयोजन है वह अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

सादिनित्यपर्यायार्थिकनय – सादिनित्यपर्याय को ग्रहण करना ही जिस नय का प्रयोजन है वह सादिनित्यपर्यायार्थिक नय कहलाता है।

शुद्धपर्यायार्थिकनय – शुद्ध पर्याय को ग्रहण करना ही जिस नय का प्रयोजन है वह शुद्ध पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

अशुद्ध पर्यायार्थिकनय– अशुद्ध पर्याय को ग्रहण करना ही जिस नय का प्रयोन है वह अशुद्ध पर्यायार्थिकनय कहलाता है।

इति पर्यायार्थिकनय – इस प्रकार पर्यायार्थिक नय की व्युत्पत्ति कही।

नैगमनय – जो अनेक अर्थात् भाव और अभाव अथवा भेद और अभेद को प्राप्त होता है उसको निगम अर्थात् विकल्प कहते हैं और जो नय निगम – विकल्प में उत्पन्न होता है उसको नैगमनय कहते हैं अर्थात् नैगमनय भेद, अभेद तथा भाव और अभाव को विषय करता है।

संग्रह नय – जो नय अभेद रूप से संपूर्ण वस्तु समूह को विषय करता है उसको संग्रहनय कहते हैं।

व्यवहारनय – जो नय संग्रहनय से ग्रहण किए हुए पदार्थ को भेद रूप से व्यवहार करता है, ग्रहण करता है, उसको व्यवहार नय कहते हैं।

ऋजुसूत्रनय – जो नय ऋजु सरल अर्थात् केवल शुद्ध वर्तमान समयवर्ती पर्याय को ही ग्रहण करता है, उसको ऋजुसूत्रनय कहते हैं।

शब्दनय– जो नय शब्द अर्थात् व्याकरण से, प्रकृति और प्रत्यय के द्वारा सिद्ध अर्थात् निष्फल शब्द को मुख्य कर विषय करता है, उसको शब्दनय कहते हैं।

समभिरूढ़नय– परस्पर में अभिरूढ़ शब्दों को ग्रहण करने वाला नय समभिरूढ़ कहलाता है, अर्थात् जो नय एकार्थवाची अनेक शब्दों को एकरूप से ग्रहण करता है उसे समभिरूढ़नय कहते हैं। इस नय के विषय में शब्द भेद रहने पर भी अर्थ भेद नहीं है। जैसे– शक्र, इंद्र और पुरन्दर। यहां पर शब्द भेद है परंतु इस नय की दृष्टि से ये तीनों शब्द एक देवराज के वाचक हैं। क्योंकि ये तीनों ही शब्द देवराज के पर्यायवाची होने से देवराज में अभिरूढ़ हैं।

एवंभूतनय– जो नय वर्तमान क्रिया की प्रधानता से होता है, अपने विषय में प्रवृत्ति करता है उसको एवंभूतनय कहते हैं।

द्रव्यार्थिकनय के भेद– शुद्धनिश्चय नय और अशुद्धनिश्चय नय ये दोनों द्रव्यार्थिकनय के भेद हैं।

निश्चय नय – जो नय अभेद की अनुपचारता से अर्थात् अभेद की मुख्यता से वस्तु का निश्चय करता है उसको निश्चय नय कहते हैं।

व्यवहार नय – जो नय भेद की उपचारता से अर्थात् एक अखंड वस्तु में खंड करके वस्तु का व्यवहार करता है उसको व्यवहार नय कहते हैं।

सद्भूत व्यवहारनय – जो नय संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन के भेद से गुणगुणी में भेद की कल्पना करता है उसको सद्भूत व्यवहार नय कहते हैं।

असद्भूत व्यवहार नय – जो नय अन्यत्र प्रसिद्ध धर्म का– पुद्गलादि में प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र समारोपण करता है– जीवादि में समारोपण करता है उसको असद्भूत व्यवहारनय कहते हैं।

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय – असद्भूत व्यवहार नय का नाम ही उपचार है। इसलिए जो नय व्यवहार से भी उपचार करता है उसको उपचारित असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं।

सद्भूत व्यवहार नय का विषय – गुण गुणी में, पर्याय पर्यायी में, स्वभाव स्वभावी में, कारक कारकी में और कारक कारकवान् में भेद करना सद्भूत व्यवहार नय का विषय है।

असद्भूत व्यवहार नय का विषय – द्रव्य में द्रव्य का उपचार करना, गुण में गुण का उपचार करना, पर्याय में पर्याय का उपचार करना, द्रव्य में गुण का उपचार करना, द्रव्य में पर्याय का उपचार करना, गुण में द्रव्य का उपचार करना, गुण में पर्याय का उपचार करना, पर्याय में द्रव्य का उपचार करना और पर्याय में गुण का उपचार करना इस तरह असद्भूत व्यवहार नय का विषय नौ प्रकार का है।

आध्यात्मामृत

(1) समता ही विश्व रूप रत्नत्रय, 5 व्रत, 10 धर्म, 12 तप, मोक्ष मार्ग एवं मोक्ष है।

(2) समता बिना समस्त धार्मिक क्रियाएँ तापस क्रियाएँ हैं।

(3) व्यवहार मोक्ष मार्ग, निश्चय मोक्ष मार्ग तथा मोक्ष आत्मा ही है।

(4) सच्चे धर्मात्मा वैज्ञानिकों के समान सत्यग्राही, सुयोग्य विद्यार्थी के समान विनम्र, अर्जुन के समान लक्ष्यभेदी, सूर्य के समान प्रकाशवान्, अग्नि के समान प्रतापवान्, सीधी रेखा के समान सरल, वज्र के समान कठोर किंतु पारदर्शी एवं वसंत ऋतु की शीतल वायु के समान शीतल होते हैं।

(5)अनेकान्तात्मक – उदार पवित्र भावना के बिना अहिंसा, अहिंसा

नहीं है, सत्य, सत्य नहीं है, धर्म, धर्म नहीं है।

(6) जो धर्म न जानता है, न मानता है, परंतु धर्म करता है वह धार्मिक नहीं परंतु छद्म धर्मद्रोही है।

(7) पकाए हुए खुले बाजार के भोजन जिस प्रकार स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं, उसी प्रकार प्रदर्शन के लिए किया गया धर्म भी धर्म के लिए हानिकारक है।

(8) आध्यात्म पुरुषों के गुणों का अनुकरण ही उनकी पूजा/प्रार्थना/आराधना है।

(9) धर्म को जानने से भी श्रेष्ठ मानना है एवं मानने से भी श्रेष्ठ आचरण करना है।

(10) गृहस्थाश्रमी के लिए सामाजिक व्यवहार के जीवन में निषेधात्मक अहिंसा (न+हिंसा) से भी श्रेष्ठ विधिपरक अहिंसा (दया, करुणा, परोपकार, सेवा, सहानुभूति) है।

(11) सप्त भय, अष्टमद से युक्त व्यक्ति, प्राथमिक धर्मात्मा (अविरत सम्यग्दृष्टि) भी नहीं हो सकता है भले वह बड़े-बड़े धार्मिक अनुष्ठान भी क्यों न करे।

(12) भाव की पवित्रता बिना गुरु के उपदेश, धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन, तप, त्यागादि कार्यकारी नहीं है, जिस प्रकार आयु क्षय के बाद औषधादि के प्रयोग कार्यकारी नहीं हैं।

(13) जिस प्रकार विद्यालय में विद्या नहीं होती है परंतु वहाँ विद्याध्ययन किया जाता है, उसी प्रकार धर्मायतन (मन्दिरादि) में धर्म नहीं होता है परंतु वहाँ धर्म की आराधना/शिक्षा ली जाती है।

(14) आध्यात्म प्रेमी के लिए वह विपत्ति भी अभिनन्दनीय है, जिससे आध्यात्मिक विकास हो, परंतु वह संपत्ति भी निन्दनीय है, जिससे आध्यात्मिक विनाश हो। क्योंकि जिस प्रकार अशुद्ध स्वर्ण पाषाण को शुद्ध करने के लिए तेजाब, अग्नि, ताड़नादि की आवश्यकता होती है उसी प्रकार अशुद्ध जीव को शुद्ध होने के लिए समता, तप, त्यागादि की आवश्यकता है।

(15) पुण्य के फलों में आसक्ति पाप है परंतु पुण्य के फल से आत्मकल्याण करना पुण्य है।

(16) आत्म-कल्याण को सर्वश्रेष्ठ अंतिम लक्ष्य मानकर धर्मात्मा व्यक्ति स्व-भूमिका के अनुकूल शुभक्रियाओं को भी निरतिचार पालन करता है।

(17) पवित्र भावना एवं महान् उद्देश्य बिना, पवित्र आवलंबन भी कल्याणकारी नहीं है।

(18) पवित्र भावना एवं महान् उद्देश्यवान व्यक्ति अपवित्र वस्तु का ध्यान करके भगवान् बन सकता है परंतु पवित्र भावना एवं महान् उद्देश्य से रहित व्यक्ति भगवान् का भी ध्यान करके दानव बन सकता है।

(19) स्व-आत्म विश्वास से रहित जीव संपूर्ण विश्वास से भी आस्तिक्य नहीं बन सकता है।

(20) जीव से जिनवर बनना ही जैन धर्म का सार है।

(21) शुद्ध अभेद नय से स्वयं में ही जिनेंद्र का दर्शन जिन दर्शन है।

(22) भगवान के गुणों का स्मरण, अनुसरण बिना समस्त धार्मिक क्रियायें निष्फल हैं।

(23) आध्यात्मिक/धार्मिक ग्रंथों में ही धर्म को खोजने वाला व्यक्ति धर्म से वैसे ही वंचित रहता है जिस प्रकार मैप (नक्शा) में ही नदी, पर्वत, नगरादि की खोज करके उसे मैप में वास्तविक रूप से प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति।

(24) भाव में निर्मलता/समता बिना केवल बाह्य धार्मिक क्रियाओं से व्यक्ति को धार्मिक मानना वैसे ही गलत है जिस प्रकार आकाश को नीला वर्ण का मानना।

(25) व्यक्तिगत रूप से अधर्म ही अनादि से शासक रहा है धर्म शासित रहा, इसे ही संसार कहते हैं। धर्म जब शासक बनता है एवं अधर्म शासित बनता है तब उसे मोक्ष कहते हैं।

(उपाध्याय कनकनन्दी)

प्रथम संस्करण 1995

विषय एवं सन्दर्भ के अनुसार विभिन्न शब्दार्थ

(राग–शत–शत–वन्दन...)

ज्ञान–ज्ञेय संबंध को यथार्थ जानो
वाच्य–वाचक संबंध को तथाहि मानो।
विषय व सन्दर्भ से होता है अर्थ, रुढ़ि से भी भिन्न होता यथार्थ अर्थ।। ।।1।।

द्रव्य क्षेत्र काल भाव से अर्थ–विभिन्न,
निश्चय–व्यवहार से भी होता अर्थ–विभिन्न।
नाम–स्थापना–द्रव्य–भाव से अर्थ–विभिन्न,
धर्म–दर्शन–विज्ञान से अर्थ–विभिन्न।।2।।

यथा 'योग' शब्द का होता अर्थ अनेक।
गणित में होता है वृद्धि या अधिक।
कर्मास्रव में होता आत्म प्रदेश कम्पन।
ज्ञान/(ध्यान) सन्दर्भ में होता है एकाग्र मन/(ध्यान)(ज्ञान) ।।3।।

नाम भगवान् है केवल सूचना–अर्थ, 'स्थापना' 'भगवान्' है मान्यता–अर्थ।
द्रव्य 'भगवान्' शक्ति की सूचना–अर्थ,
भाव 'भगवान्' है साक्षात् शक्ति सहित

निश्चय से 'जीव' है चेतनामय, अभौतिक अमूर्तिक आनन्दमय।
व्यवहार से यह सब पूर्णतः नहीं, कर्म के कारण ये सब विकृत सही। ।।5।।
'धर्म द्रव्य' होता है गति माध्यम द्रव्य, 'धर्म' होता है वस्तु–स्वभावमय।
'अधर्म द्रव्य' होता स्थिति माध्यम द्रव्य, 'अधर्म' होता है विकृत स्वभावमय।। 6।।

स्वभावतः होता है 'द्रव्य' षट् द्रव्य/(जीवादि),
व्यवहार से होता धन भी द्रव्य।
भौतिक वस्तु व पूजादि द्रव्य, द्रव्य क्षेत्रादि अन्तर्गत भी द्रव्य ।।7।।
'भाव' होता है 'सद्भाव' स्वरूप, 'भाव' होता है 'परिणाम' स्वरूप।
'अशुभ' 'शुभ' 'शुद्ध' भाव त्रिविध, व्यवहारतः भौतिक मूल्य है 'भाव' ।।8।।
'शाब्दिक' अर्थ व 'भावतः' अर्थ, 'नय सापेक्ष' व 'आध्यात्मिक' अर्थ।
'रहस्य' तथा 'शिक्षाप्रद' अर्थ, कनकनन्दी का लक्ष्य है 'परमार्थ' ।।9।।

प्रथम महाधिकार

विश्व के मूलभूत षट्द्रव्य

मंगल–स्मरण

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा। (1)
जीवमजीवं द्रव्यं जिनवरवृषभेण येन निर्दिष्टम्।
देवेन्द्रवृन्दवन्द्यं वन्दे तं सर्वदा शिरसा।

I always salute with my head the eminent one among the great Jinas, who worshipped by the host of Indras and who has described the Dravyas (substances) Jiva and Ajiva.

मैं (नेमिचंद) जिस जिनवरों में प्रधान ने जीव और अजीव द्रव्य का कथन किया, उस देवेन्द्रादिकों के समूह से वन्दित तीर्थंकर परमदेव को सदा मस्तक से नमस्कार करता हूँ।

इस मंगल स्मरण एवं प्रतिज्ञा– सूचक गाथा में आचार्य श्री ने सच्चे हितोपदेशी, सर्वज्ञ भगवान् को नमस्कार किया है। जिनेंद्र भगवान् ने जो कुछ प्रतिपादन किया है उसमें मूलभूत दो द्रव्य हैं। यथा – (1) जीव द्रव्य (2) अजीव द्रव्य। द्रव्य विशेष रूप से अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं। यथा– (1) पुद्गल द्रव्य (2) धर्मद्रव्य (3) अधर्म द्रव्य (4) आकाश द्रव्य (5) काल द्रव्य।

इसी प्रकार उपर्युक्त छहों द्रव्यों से ही विश्व का निर्माण हुआ है। अर्थात् विश्व के मौलिक द्रव्य छह ही हैं और छहों द्रव्य जीव और अजीव में गर्भित हैं। इसलिए विश्व दृष्टा, विश्वज्ञाता, विश्व–विद्या–विशारद एवं विश्व –तत्त्व – व्याख्याता– तीर्थंकर भगवान् ने जीव द्रव्य एवं अजीव द्रव्य के कथन से संपूर्ण विश्व के संपूर्ण तत्त्वों का व्याख्यान किया है। जिनेंद्र भगवान् विश्व तत्त्व के ज्ञाता, दृष्टा एवं व्याख्याता होते हुए भी विश्व के कर्त्ता–धर्त्ता–हर्त्ता नहीं हैं। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अकृत्रिम, अनादि–अनिधन, स्वभाव से निवृत्त तथा शाश्वतिक होते हुए भी स्वाभाविक रूप से स्वयं ही कर्त्ता (सत्तावान, स्वभाव वाला, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य को

करने वाला), हर्त्ता (उत्पाद- व्यय रूप से पर्यायों को स्वयं में लीन करने वाला) है। त्रिलोक सार में कहा भी है-

लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो।
जीवाजीवेहि फूड़ो सव्वागास अवयवो णिच्चो।।

(त्रिलोक सार)

निश्चय से लोक अकृत्रिम, अनादिअनिधन, स्वभाव से निष्पन्न, जीवाजीवादि द्रव्यों से सहित, सर्वाकाश, अवयव स्वरूप और नित्य है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है-

नैवासतो जन्म सतो न नाशो
दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति।। (4)

सर्वथा, सर्वदा असत् वस्तु का जन्म अर्थात् प्रादुर्भाव नहीं होता है और सर्वथा सत् वस्तु का विनाश भी नहीं होता है। जिस प्रकार प्रज्ज्वलित दीपक को बुझा देने पर भी प्रकाश रूप पुद्गल की पर्याय पूर्णतः नाश नहीं हो जाती है परंतु अंधकार रूप में परिणमन कर जाती है। नारायण कृष्ण ने भी गीता में कहा है-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।। (गीता)

और परमेश्वर भी भूत, प्राणियों के न कर्त्तापन को और न कर्मों को और न ही कर्मों के फल संयोग को वास्तव में रचता है, अपितु परमात्मा के सकाश से ही प्रकृति वर्तती है, अर्थात् गुण ही गुण में वर्तते हैं।

नादत्ते कस्यचितपापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।। (गीता)

और सर्वव्यापी परमात्मा, न किसी के पाप कर्म को और किसी के शुभ कर्म को ग्रहण करता है, बल्कि (माया के) अज्ञान द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं।

द्रव्य दृष्टि से द्रव्य शाश्वतिक होने पर भी पर्याय दृष्टि से द्रव्य नित्य परिवर्तनशील होने के कारण अशाश्वतिक, क्षण भंगुर, क्षण-स्थायी तथा

विनाशीक है क्योंकि सत्-स्वरूप द्रव्य का लक्षण बताते हुए आचार्य उमास्वामी 'तत्त्वार्थ सूत्र' में उल्लेख करते हैं कि –

(उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्।)

Sat (is a) simultaneous possession (of) Utpada, coming into existance, birth, Vyaya; going out of existance, decay, and Dhrauvya, continuous sameness of existence, premanence.

The meaning is that the substance remains the same, but its condition always changes.

सत् स्वरूप द्रव्य अपनी सत्ता को बिना परिवर्तित किए प्रति समय पूर्ववर्ती प्राचीन पर्याय को त्याग कर उत्तरवर्ती नवीन पर्याय को धारण करता है। द्रव्य का अनंत भूतकाल, एक समयवर्ती वर्तमान काल एवं भूतकाल से भी अनंतगुणित भविष्यत् काल में प्रति समय पर्याय रूप से परिवर्तित होते हुए भी द्रव्य रूप से स्व सत्ता को कायम रखना ध्रौव्य है।

द्रव्य रूप में ध्रौव्य होते हुए प्रत्येक समय पूर्ववर्ती पर्याय का विनाश (लय-प्रलय) होना व्यय है।

द्रव्य रूप से ध्रौव्य होते हुए भी प्रत्येक समय में पूर्ववर्ती पर्याय का विनाश होने पर उत्तरवर्ती नवीन पर्याय का जन्म/उत्पत्ति प्रादुर्भाव होना उत्पाद है।

षड् द्रव्यमयी विश्व होने के कारण एवं छहों द्रव्य प्रत्येक समय में पर्याय अपेक्षा द्रव्य प्रलय धर्मी होने से विश्व भी प्रत्येक समय में प्रलय धर्मी है।

उपर्युक्त जो परम वैज्ञानिक त्रिकाल में अखंडित, वस्तु स्वातंत्र्य एवं वस्तु स्वरूप का कथन करने वाले ऐसे जिनवरवृषभ अर्थात् परम तीर्थंकर देव हैं उन्हें नमस्कार है।

''जिणवरवसहेण'' मिथ्यात्व और राग आदि को जीतने से असंयत सम्यग्दृष्टि आदि एकदेशी जिन हैं, उनमें जो वर (श्रेष्ठ) हैं, वे जिनवर अर्थात् गणधर देव हैं, उन जिनवरों (गणधरों) में भी जो प्रधान हों वे जिनवर वृषभ अर्थात् तीर्थंकर परमदेव हैं ऐसा जिनदेव ने कहा है। इससे सिद्ध होता है सर्वज्ञ भगवान् ही समस्त सत्य के पूर्ण ज्ञाता है, इसलिए

उनके द्वारा प्रतिपादित विषय ही सत्य एवं तथ्यपूर्ण है। छद्मस्थ (असर्वज्ञ, गणधरादि, बाहरवें गुणस्थान तक) जीव संपूर्ण सत्य के ज्ञाता नहीं होने के कारण उनके द्वारा प्रतिपादित विषय पूर्ण सत्य नहीं हो सकता है। इसलिए तो चार ज्ञान के धारी एवं 64 रिद्धि सम्पन्न, तद्भव मोक्षगामी क्षायिक सम्यग्दृष्टि गणधर परमश्रेष्ठी भी अर्हन्त भगवान् के द्वारा प्रतिपादित वस्तु स्वरूप का ही सम्पादन करते हैं, लिपिबद्ध करते हैं, उपदेश करते हैं एवं प्रचार प्रसार करते हैं।

आचार्य श्री ने इस गाथा में जिनवर वृषभ का स्मरण उच्चारण एवं मस्तक से नमस्कार करके मंगलाचरण किया है। मंगलाचरण करके आचार्य श्री ने स्वस्थ आगमोक्त गुरु-परंपरा का निर्वाह किया है। कहा भी है-

नास्तिक्य परिहारस्तु शिष्टाचार प्रपालनम्।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादौ तेन संस्तुति।।

नास्तिकपने के त्याग के लिए अर्थात् ग्रंथकर्ता आस्तिक्य है यह बताने के लिए शिष्टाचार जो परम्परा से चला आया विनय का नियम उसको पालने के लिए, पुण्य की प्राप्ति के लिए तथा विघ्न को दूर करने के लिए इन चार बातों को चाहते हुए ग्रंथ के आदि में इष्ट देव की स्तुति की जाती है।

जीव के नौ विशेष गुण

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।।
जीवः उपयोगमयः अमूर्त्तिः कर्त्ता स्वदेहपरिमाणः।
भोक्ता संसारस्थः सिद्धः सः विस्रसा ऊर्ध्वगतिः।।

Jiva is characterised by upayoga, is formless and an agent, has the same extent as its own body, is the enjoyer (of the fruits of Karma), exists in Samsara, is Siddha and has a characteristic up ward motion.

जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्त्ता है, निज शरीर के बराबर है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है।

छहों द्रव्यों में से जीव द्रव्य सर्वश्रेष्ठ एवं उपादेय द्रव्य होने के कारण तथा प्रथम गाथा में जीव द्रव्य का प्रथम निर्देश होने से इस दूसरी गाथा में आचार्य श्री ने जीव द्रव्य के नौ विशेष गुणों के नाम निर्देशपूर्वक नौ अधिकारों का संक्षेप में दिग्दर्शन किया है। स्वयं आचार्य श्री ने इसी ग्रंथ में नौ अधिकारों का विशेष वर्णन अग्रिम गाथासूत्र में किया है इसलिए यहाँ केवल सामान्य जानकारी के लिए नौ अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार से कर रहे हैः

1. जीव– जो शुद्ध निश्चय नय से चैतन्य रूप भाव प्राण से जीता है एवं व्यवहार से अशुद्ध जो द्रव्य प्राण एवं भाव प्राण से जीता है उसे जीव कहते हैं।

2. उपयोगमय – शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से संपूर्ण निर्मल केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन रूप उपयोग से रहित है एवं व्यवहार नय से क्षायोपशमिक ज्ञान एवं दर्शन से युक्त है उसे उपयोगमय कहते हैं।

3. अमूर्तिक – संसारी जीव व्यवहार नय से मूर्तिक कर्मों से युक्त होने के कारण मूर्तिक होते हुए भी निश्चय नय से जीव कर्म निरपेक्ष है इसलिए अमूर्तिक हैं।

4. कर्त्ता– शुद्ध नय से जीव, कर्म का कर्त्ता नहीं है तथापि व्यवहार नय से जीव योग एवम् उपयोग से कर्मों का आस्रव एवं बंध करता है इसलिए कर्त्ता भी है।

5. स्वदेह परिमाण– निश्चय नय से जीव, लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशी होते हुए भी शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न संकोच तथा विस्तार के कारण जीव संसारी अवस्था में जिस शरीर को प्राप्त करता है उस शरीर के बराबर हो जाता है।

6. भोक्ता– शुद्ध निश्चय नय से जीव स्व अनंत सुख को भोगता है तथापि अशुद्ध नय से कर्म परतंत्र जीव, शुभ कर्म से उत्पन्न शुभ एवं अशुभ कर्म से उत्पन्न अशुभ कर्मों को भी भोगता है।

7. संसार में स्थित– यद्यपि जीव शुद्ध निश्चय नय से संसार से रहित है तथापि अशुद्ध नय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूपी पंचविध संसार में रहता है।

8. सिद्ध– यद्यपि जीव अनादि काल से कर्म से युक्त होने के कारण असिद्ध है तथापि शुद्ध निश्चय नय से कर्म से रहित होने के कारण सिद्ध है।

9. स्वभाव से उर्ध्वमान करने वाला– यद्यपि कर्म परतंत्र जीव संसार में ऊंचा, नीचा, सीधा, तिरछा गमन करता है तथापि निश्चय नय से स्वभाव रूप से इसमें ऊर्ध्वगमन शक्ति है इसलिए जीव मोक्षगमन के

समय ऊर्ध्वगमन ही करता है।

उपर्युक्त गुणों से युक्त प्रत्येक जीव होता है। कुछ दार्शनिक उनमें से कुछ गुण को तो मानते हैं और कुछ गुणों को नहीं मानते जैसे– चार्वाक आदि भौतिक जड़वादी दार्शनिक चैतन्य से युक्त शाश्वतिक जीव द्रव्य को नहीं मानते हैं। नैयायिक दर्शन में मुक्त जीव को ज्ञान, दर्शन से रहित मानते हैं, भट्ट तथा चार्वाक दर्शन जीव को मूर्तिक ही मानते हैं। सांख्य दार्शनिक आत्मा (पुरुष) को कर्त्ता नहीं मानता है। नैयायिक, मीमांसक और सांख्य दर्शन आत्मा को प्राप्त शरीर प्रमाण न मानकर आत्मा को हृदय कमल में स्थित बट बीज आदि के बराबर मानते हैं। बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी होने के कारण इस दर्शन की अपेक्षा जीव स्वपूर्वोपार्जित कर्म का भोक्ता है यह सिद्ध नहीं होता। सदाशिव मत वाले आत्मा को सदा सर्वदा मुक्त मानते हैं। भट्ट एवं चार्वाक दार्शनिक आत्मा को सिद्ध नहीं मानते हैं। उपर्युक्त दार्शनिक जीव को स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन वाला नहीं मानते हैं। उपर्युक्त असम्यक् मतों को निरसन करने के लिए इस गाथा में जीव के उपरोक्त गुणों का वर्णन किया गया है।

जीव का स्वरूप

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छ्यणयदो दु चेदण जस्स।। (3)
त्रिकाले चतुः प्राणा इन्द्रियं बलं आयुः आनप्राणश्च।
व्यवहारात् स जीवः निश्चयनयतः तु चेतना यस्य।।

According to Vyavahara Naya, That is called Jiva, which is possessed of four Pranas viz, Indriya (the senses), Bal (Force), Ayu (Life) And Ana-prana (respiration) in the three periods of time viz, the present, the past and the future and according to Nischaya Naya that which has consciousness is called Jiva.

तीन काल में इंन्द्रिय, बल, आयु और आनपान इन चारों प्राणों को जो धारण करता है वह व्यवहार नय से जीव है और निश्चय नय से जिसके चेतना है, वह जीव है।

आचार्य श्री ने इस गाथा में व्यवहार नय से एवं निश्चय नय से जीव

की परिभाषा दी है। संसारी जीव अनादिकाल से कर्म संतति की अपेक्षा कर्म से युक्त है। इसलिए कर्म परतंत्र जीव यथायोग्य कर्म के उदय से प्राप्त यथा योग्य द्रव्य प्राण एवं भाव प्राण से जीता है। इसलिए व्यवहार नय से चार द्रव्य प्राणों से और भाव प्राणों से जो जीता है, जीवेगा वा पहले जीया है उसे जीव कहते हैं, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्येन्द्रिय आदि द्रव्य प्राण है और भावेन्द्रिय आदि क्षायोपशमिक भाव प्राण अशुद्ध निश्चय नय से है तथा निश्चय नय से शुद्ध चैतन्य ज्ञान आदि शुद्ध भाव प्राण है।

प्रत्येक द्रव्य, 'पर' से उत्पन्न न होने वाला सत्तावान होने से प्रत्येक द्रव्य अनादि अनिधन अर्थात् शाश्वतिक है। विज्ञान के अनुसार भी द्रव्य एवम् ऊर्जा कभी भी नष्ट नहीं होते हैं परंतु परिवर्तित होते रहते हैं। इसलिए प्रत्येक जीव अनादि से हैं और अनंत तक रहेगा भले उसमें सतत परिवर्तन होता है। डार्विन आदि कुछ आधुनिक वैज्ञानिक एवं चार्वाक आदि कुछ प्राचीन दार्शनिक जीव को शाश्वतिक नहीं मानते हैं परंतु इनका यह मत कपोल कल्पित असत्य है। इसका विशेष वर्णन मैंने 'विश्व विज्ञान रहस्य में किया है विशेष जिज्ञासु 'विश्व विज्ञान रहस्य' का अध्ययन करें जीव एक शाश्वतिक द्रव्य है, इसकी सिद्धि निम्न प्रकार से होती है।

वच्छरक्खर भवसारित्थ सग्गणिरय पियराय।
चुल्लिय हंडि य पुण मडउ णव दिट्ठंता जाय।।
वत्स अक्षर भव सादृश्य स्वर्ग नरक पित्राराधः ।
चूल्लिस्थ हांडी पुनः मृतकः नव दृष्टांत यावत्।।

1. वत्स –

जन्म लेते ही बछड़ा बिना किसी के सिखाये अपने आप अपनी माता का स्तन पान करने लगता है। यहां मनोवैज्ञानिक पद्धति से जब विचार करते हैं, तब पता चलता है कि यह कार्य पूर्व भव के संस्कार से माध्यम से होता है। यदि जड़ से बनने वाला एक नूतन पर्याय जीव है तब जड़ से बनने वाले मेज, कुर्सी आदि भी अपने आप कार्य करने लगेंगे। जड़ात्मक जल से बनने वाला मेघ भी जीव के समान क्रिया करने लगेगा। इस पूर्व

जन्म के सिद्धांत को अब वैज्ञानिक लोग भी मानने लगे हैं। वैज्ञानिकों ने एक यंत्र बनाया है। जिसमें से कोई वस्तु बाहर नहीं जा सकती है। उसमें जन्म एवं मरण के समय में आत्मा के एक विद्युत चक्र मालूम पड़ा। यह विद्युत चक्र मृत्यु के बाद नहीं रहता ऐसा मानते हैं। इसके शोध के लिए एक अन्य यंत्र तैयार हो रहा है। यह विद्युत चक्र अन्य कुछ नहीं हैं किंतु जीव के साथ अनादि से संबंधित तैजस शरीर है। सर ओलिवर लाज (Sir Oliver Loz) मानते हैं कि आत्म तत्त्व निश्चित है। भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचंद्र बोस ने उच्च स्तरीय मनुष्यादि के समान ही निम्न श्रेणीय वृक्षादि को भी जीव माना है। विज्ञान से उसने सिद्ध किया है कि आत्मा, शरीर के अनुसार संकोच या विस्तार करता है।

2. अक्षर–

अक्षरों का उच्चारण जीव जानकारी के साथ आवश्वकतानुसार करता है। जड़ पदार्थ में इस प्रकार अनुभूति मूलक शब्द उच्चारण की आवश्यकता नहीं होती। कोई कह सकता है कि रेडियो टेलीविजन भी तो शब्द उच्चारण करते हैं? किंतु वे अनुभूति मूलक शब्द उच्चारण नहीं करते। जिस प्रकार जीव अपने भाव को स्वतः प्रवृत्त प्रकाशित करता है उसी प्रकार यंत्रादि नहीं करते हैं। प्रत्येक जीव में ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति समान नहीं होती है। किसी व्यक्ति को बिना सिखाये भी विशेष कला, ज्ञानादि हो जाता है। अन्य को सिखाने पर भी वह उसमें कृतकार्य नहीं हो पाता है। इसका कारण पूर्व भव का संस्कार–असंस्कार है। कोई प्रश्न कर सकता है कि मेघादि स्वतः प्रवृत्त गर्जना करते हैं किंतु वह गर्जना अनुभूतिमूलक नहीं है। केवल पुद्गल स्कन्ध के घर्षण के माध्यम से उत्पन्न होने वाला शब्द, अनुभूति शब्द रहित जड़ शब्द है।

3. भव–

आत्मा यदि क्षणिकवाद के समान अस्थिर पदार्थ होता तब बुद्धदेव की पूर्व भव की जातक कथा ही कैसे सत्य होती? यदि पुनर्भव नहीं होता तब परलोक के लिए सुकृत कार्य के आलम्बन का क्या प्रयोजन होता? आत्मा यदि स्थिर नहीं होता तब कृत कार्य का भागी कौन होता? जीवन क्षण भंगुर

है, इस प्रकार का उपदेश देने वाले महात्मा बुद्ध ने कठोर चातुर्याम का स्वयं अनुकरण एवं उपदेश क्यों दिया? इस प्रकार भव ग्रहण से सिद्ध होता है कि आत्मा शाश्वत अनादि निधन द्रव्य है। विज्ञान की अपेक्षा भी कोई वस्तु सर्वदा नष्ट नहीं होती है, तब विश्व के सर्वश्रेष्ठ आत्म वस्तु का मूल छेद कैसे हो जाएगा?

4. सादृश्य–

प्रायः निम्न श्रेणीय 'एककोशीय प्राणी–अमीबा' से लेकर विश्व के सर्वश्रेष्ठ बुद्धजीवी– मनुष्य पर्यन्त, प्रत्येक प्राणी में आहार, भय परिग्रह, मैथुन, हर्ष– विषाद, सुख–दुःख आदि समान रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार की सामान्य क्रियाओं के माध्यम से ज्ञात होता है कि एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त जीवों में जो एक सामान्य शक्ति विशेष है, वही शक्ति जीव–शक्ति अर्थात् चेतना–शक्ति है। निम्न श्रेणीय एककोशीय अमीबा, एकेन्द्रिय पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, वनस्पति जीव भी यथा योग्य आहार ग्रहण करते हैं, शत्रु से भयभीत होते हैं, उपकार करने वाले के साथ प्रीति भी करते हैं, अपने लिए एवं अपनी संतान के लिए (भावी समय के लिए) आहारादि संग्रह करते हैं, अधिक प्रतिकूल परिस्थिति में दुःखी होते हैं, काम भोग भी यथायोग्य अंग से करते हैं। वंश परम्परा स्थायी रखने के लिए वंश वृद्धि भी करते हैं। यथायोग्य श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं। अंत में ईह लीला भी संवरण करते हैं। जैसे– वनस्पति सूर्य से किरण, वायुमंडल से वायु, भूमि से रस आहार के रूप में ग्रहण करते है। उसी प्रकार अग्नि अपना आहार लकड़ी, तेल आदि ईंधन से ग्रहण करती है। उपरोक्त वस्तु के अभाव से उनका मरण भी होता है, जैसे पानी आदि के अभाव से वनस्पति का ईंधन, ऑक्सीजन के अभाव में अग्नि का मरण होता है। लाजवन्ती पौधे का स्पर्श करने से, भय के कारण लाजवन्ती संकुचित हो जाती है। मौलसिरी आदि कुछ वृक्ष के फूल सुंदर स्त्री को देखकर विकसित हो जाते हैं। कुछ फल वाले वृक्ष रजस्वला स्त्री के स्पर्श से एवं उनकी छाया से मर जाते हैं। अदरक, आलू, प्याज, लहसून आदि का जो मोटा भाग है, वह उनके आहार का संचय है। मरुभूमि के कुछ वृक्ष भी वर्षा ऋतु में अधिक पानी, ग्रीष्म ऋतु के लिए

संचित करते हैं, यह उनकी परिग्रह संज्ञा है। इसी प्रकार समस्त निम्न श्रेणीय प्राणियों में आहारादि क्रिया समान पायी जाती है। उच्चस्तरीय द्विइन्द्रियादि प्राणी में यह क्रिया अत्यंत स्पष्ट है। इससे यह सिद्ध होता है कि इनमें जो एक समानता पायी जाती है उसका कारण एक साधारण शक्ति है, वह शक्ति ही आत्मा है। आधुनिक वैज्ञानिक भी इस बात को स्पष्ट रूप से मानते हैं।

5-6 स्वर्ग-नरक -

जीव यदि स्वतंत्र एवं अनादि निधन पदार्थ नहीं होता तब पाप करने पर उसका फल भोगने के लिए नरक कौन जाता और पुण्य का फल भोगने के लिए स्वर्ग कौन जाता? स्वर्ग-नरक का वर्णन केवल भौतिकवादी एवं चार्वाक को छोड़कर विश्व के समस्त दर्शन मानते हैं। यदि इस प्रकार मानों कि स्वर्ग-नरक का अस्तित्व ही नहीं है, तब असत् का विचार ही नहीं हो सकता है क्योंकि ज्ञान का विषय ज्ञेय है। जब ज्ञेय ही नहीं है तो वह ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है? जब ज्ञान ही नहीं होगा तब नित्यान्त असत् का अन्तर्जल्प रूप वचन एवं बाह्य प्रवृत्ति रूप शब्द का प्रयोग कैसे होगा? ''विशेष्य वाच्यस्य विशेषण वचो, यतो विशेष विनियम्यते च यत्। अर्थात् जिससे जिस विशेष्य का नियम किया जाता है वह वचन विशेष्य है जो वाच्य है। जिसको खास करके बताना है वह विशेषण होता है। कोई कहेगा कि आकाश कुसुम रूपी पदार्थ नहीं है आकाश कुसुम शब्द है, इससे सिद्ध होता है कि पदार्थ के बिना भी उसका कथन होता है। किंतु यह सत्य नहीं है क्योंकि ''आकाश कुसुम'' नहीं होने पर भी आकाश का अस्तित्व है एवं कुसुम का अस्तित्व वृक्ष में है, इसलिए आकाश कुसुम शब्द अर्थात् वाचक वाच्य के पदार्थ बिना प्रवृत नहीं हुआ है। इससे सिद्ध हुआ कि नरक एवं स्वर्ग वाचक शब्द के वाच्य पदार्थ स्वर्ग-नरक हैं।

7. पितर -

अनेक मनुष्य मरकर भूतादि हो जाते हैं फिर अपने पुत्र, पत्नी आदि को कष्ट, सुख आदि देकर अपने पूर्वभव का हाल बताते हैं। जातिस्मरण होने के बाद अपना पूर्वभव पिता, माता एवं ग्राम का नाम बताने वाले

अभी भी पाये जाते हैं। देश–विदेश की पत्र–पत्रिकाओं में ऐसी घटनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। वर्तमान भरत क्षेत्र में काल के प्रभाव से विशेष जातिस्मरण, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञान एवं केवलज्ञान का अभाव है। जाति स्मरणादि ज्ञान की उत्पत्ति के लिए विशेष भाव शुद्धि की आवश्यकता है। मरण के समय में यदि निर्मल परिणाम रहते हैं, तो परभव में जातिस्मरण हो सकता है। किंतु पंचम काल के प्रायः सभी जीव अशुभ परिणाम से युक्त होकर अन्य गतियों में उत्पन्न होते हैं, इसलिए वर्तमान काल में विशेष जातिस्मरण आदि ज्ञान नहीं पाया जाता है।

वैज्ञानिक सर ओलिवर लाज ने मरण के बाद आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है। अंग्रेज कवि ड्राइडन ने आत्मा को अविनाशी माना है।

Death has no Power Immortal soul to Stay,
That when it Presents body turns to clay,
Seeks a fresh home and with unlessened might,
Inspires another form with life and light,"

अविनाशी आत्मा को नष्ट करने वाली शक्ति मृत्यु में भी नहीं है। जब यह शरीर मिट्टी रूप में परिणमन होता है, उस समय आत्मा अपने योग्य एक अन्य शरीर का अन्वेषण करता है और उसमें जीवन ज्योति प्रकाशित करता है।

वैज्ञानिक टेरटूलियन के अनुसार "Soul is a Simple and Invisible Substance अर्थात् आत्मा सादा एवं खण्डविहीन वस्तु है। इसलिए आत्मा अविनाशी होना चाहिए। अखण्ड असंयुक्त मूल पदार्थ, कभी भी नष्ट नहीं होता है। आत्मा में उत्पन्न होने वाला ज्ञान अखंडित होकर रहता है, समिष्टि रूप से रहता है। जैसे– Dog (कुत्ता) शब्द तीन अक्षरों से मिलकर बना है किन्तु उसका वाच्य पृथक्–पृथक् तीन स्वरूप न होकर एक ही स्वरूप है, इसलिए जब हम Dog शब्द सुनते हैं तो उस समय Dog का अखंड ज्ञान एक साथ होता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान खण्ड–खण्ड में नहीं है बल्कि अखंड है। यह ज्ञान भौतिक वस्तु से निर्मित मस्तिष्क से उत्पन्न नहीं हो सकता है। इस ज्ञान का पुनरावर्तन भी होता है। इस कारण

से जड़त्व से भिन्न आत्म–तत्त्व मानना पड़ेगा। ऐसा डॉ. एलीजावेथ फेसर भी कहते हैं। दार्शनिक कवि वड्सवर्थ मरण को एक निद्रा जैसा मानते हैं।

"Our birth is but a sleep and a forgetting
The Soul that rises with us, our life's star,
Hath and elsewhere its setting,
and cometh from ..... (Ode on Intimations of Immortality)

हमारा जन्म निद्रा से जाग्रत होने के समान है। इस निद्रा में पूर्व जन्म की अनुभूति का विस्मरण हो जाता है। शरीर सहित जन्म लेने वाला आत्मा एक अन्य स्थल में अस्तगत होने वाले नक्षत्र के समान होता है एवं वह बहुत दूर से आता है।

8. चूल्हा–हांडी –

जीव यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश–इन पाँच महाभूतों से बन जाता है तो दाल, भात, खिचड़ी आदि बनाते समय चूल्हे पर हंडियों में पांच महाभूतों का संसर्ग होने के कारण वहां भी जीव उत्पन्न हो जाना चाहिए। ऐसा होने पर सन्तान उत्पत्ति के लिए माता–पिता के संपर्क की क्या आवश्यकता है? जो बांझ है, उसके भी सुलभता से पुत्र उत्पन्न होना चाहिए। जो सती, विधवा स्त्री है, उसके भी सन्तान उत्पन्न होनी चाहिए। इस प्रकार समवाय से जीव उत्पन्न होना संभव है क्या? ऐसा विचारक विचारिये। ऐसा कह सकते हैं कि यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक समस्त जीव सम्मूर्च्छन ही होते हैं।

यथा–

उववाद सुरणिरया, गब्भजसम्मुच्छिमा हु णरतिरिया।
सम्मुच्छिमा मणस्साऽपज्जत्ता एयवियलक्खा।।
पंचक्ख तिरिक्खाओ गब्भजसम्मुच्छिया तिरिक्खाणं।
भोगभुमा गब्भभवा नरपुण्णा गब्भजा चेव।।

(गो.जी.) (90–91)

Instantaneous rise appertains to celestial & hellish

souls; uterine birth & Spontaneous generation to human sub-human soul &; One incomplete sensed (sub-human souls) (sensed) have spontaneous generation (only).

Five-Sensed Sub-human souls are either of Uterine birth or of spontaneous generation; sub- human souls of the enjoyment region (Bhoga-Bhoomi) are all of Uterine birth; & developable human souls also are always of uterine birth.

देवगति और नरकगति में उपपाद जन्म ही होता है। मनुष्य तथा तिर्यञ्चों में यथासंभव गर्भज एवं सम्मूर्च्छन दोनों जन्म होते हैं किंतु लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य और एकेन्द्रिय, द्वि-इन्द्रिय, त्रि-इन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय का सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है।

कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय, तिर्यञ्च, गर्भज एवं सम्मूर्च्छन ही होते हैं। तिर्यञ्चों में जो भोगभूमिज तिर्यञ्च हैं वे गर्भज ही होते हैं और जो पर्याप्त मनुष्य हैं वे गर्भज ही होते हैं।

उववादगब्भजेसु य लद्धिअपज्जतगा ण णियमेण।
णर सम्मुच्छिमजीवा लद्धि अपज्जत्तगा चेव ।।

(गो. जी.) (92)

Absolutely-non developabale souls, by rule, never have instantaneous rise or uterine birth, while human souls of Spontaneous generation are only absoultely, non-developable.

Commentary Human souls of spontaneous generation are born in the armpits, womb & breasts of females in Arya Khanda, excepting those of the Prime queen of Chakravarti. They are also born in dirty places where urine, night soil & Such like things are laid. They are born & they die 18 times in one pulse- beat, which is 3772 nd part of Muhurta i.e. 48 minutes.

उपपाद और गर्भ जन्म वालों में नियम से लब्ध्यपर्याप्तक नहीं होते और सम्मूर्च्छन मनुष्य नियम से लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं। सम्मूर्च्छन मनुष्य

चक्रवर्ती की पट्टरानी को छोड़कर अन्य कर्म भूमिज आर्य खण्ड की स्त्रियों की योनि, काँख, स्तन, मल-मूत्रादि में उत्पन्न होते हैं। देव एवं नारकी का अपने-अपने योग्य यथाक्रम पलंग-शैय्या एवं घंटादि शुभ-अशुभ आकार वाली उत्पत्ति स्थान में उत्पन्न होना उपपाद जन्म है। जो माता-पिता के रज-वीर्य के बिना चारों ओर से पुद्गल को ग्रहण कर और गंदे स्थान पर, जहां कि मूत्र-वीर्यादि पड़ा हुआ है, वहां उत्पन्न होते हैं, वे सम्मूर्च्छन हैं। वे मनुष्यों की आंखों के द्वारा दिखाई नहीं देते। उनका जीवन अत्यंत क्षुद्र जीवन है। वे एक श्वासोच्छ्वास में 18 बार जन्म और 18 बार मरण करते हैं। एक श्वासोच्छ्वास एक मुहूर्त्त का 3772वां भाग है। मुहूर्त्त प्रायः 48 मिनट का होता है।

विशेषार्थ-

आत्मा जिसके द्वारा शरीर, आहार और इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, उसको जन्म कहते हैं। जन्म तीन प्रकार के हैं। (1) सम्मूर्च्छन जन्म (2) गर्भज जन्म (3) उपपाद जन्म। माता-पिता के रजवीर्य के मिश्रण से स्त्री के उदर में जो संतान उत्पन्न होती है उसे गर्भज जन्म कहते हैं। देव और नारकियों को अपने-अपने योग्य यथाक्रम पलंग-शैय्या एवं घंटादि शुभ-अशुभ आकार वाले उत्पत्ति स्थान से उत्पन्न होना उपपाद जन्म है। माता-पिता के रज-वीर्य के बिना चारों ओर से पुद्गलों को ग्रहण कर अवयवों की रचनाकर उत्पन्न होना, सम्मूर्च्छन जन्म कहलाता है।

त्रिषु लोकेषूर्ध्वमधस्तिर्यक् च देहस्य समन्ततो।
मूर्च्छनं सम्मूर्च्छनमवयव प्रकल्पनम्।।

In the three worlds the upper, the lower and the middle, there is spontaneous generation of the body in all directions, that is formation of limbs by the Surrounding matter.

तीनों लोकों में ऊपर, नीचे और तिरछे देह के चारों ओर से मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना सम्मूर्च्छन है। उपयुक्त जल, वायु उष्णता एवं शरीरादि के योग्य पुद्गल परमाणुओं के समवाय जब एक स्थान में होते हैं, उस समय अन्य स्थान से विग्रह गति से आकर जीव उत्पन्न होता है, इसको

सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं। जैसे शीत ऋतु में सेम की लता के ऊपर सायंकाल कोई जीव नहीं रहते हैं किंतु रात्रि में यदि कोहरा आदि हो जाता है, तब उसमें जीव हो जाते हैं। ये जीव कैसे उत्पन्न हुए हैं? यहां तो माता-पिता का संयोग नहीं है, वैज्ञानिक कृत रासायनिक मिश्रण भी नहीं है। उन जीवों की जो इस प्रकार की उत्पत्ति है, वे सम्मूर्च्छन जीव हैं। उनका सम्मूर्च्छन जन्म होता है। इसी प्रकार मर्यादा रहित दही में, आहार में, आटे में, पापड़ में, अचार में जो जीव उत्पन्न होते हैं वे भी सम्मूर्च्छन जीव हैं। बीज को उपयुक्त जल, वायु मिलने पर जो अंकुर उत्पन्न होता है वह भी सम्मूर्च्छन जीव है। गोबर में, मल में, पेट में कृमि उत्पन्न होते हैं वे भी सम्मूर्च्छन जीव हैं।

कुछ जलचर जीव तथा मत्स्य भी सम्मूर्च्छन होते हैं। चींटी, लट, पतंगा, खटमल, जोंक, बिच्छू, पटेर, शंख, सीप, तितली आदि सम्मूर्च्छन जीव हैं। इतना ही नहीं मनुष्य भी सम्मूर्च्छन उत्पन्न होते हैं किंतु उनका आकार एवं आयु अत्यंत कम है। उनकी पर्याप्ति नहीं होती है। ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि इन्द्रियों के द्वारा उनका ग्रहण नहीं हो सकता है। इनको लब्ध्यपर्याप्तक जीव कहते हैं। दृश्यमान समस्त मनुष्य पर्याप्तक है। क्या कोई वैज्ञानिक एवं भौतिकवादी केवल रासायनिक प्रक्रिया से पर्याप्त मनुष्य की सृष्टि कर सकता है? यदि कर सकता है तो उसे विश्व के सामने प्रदर्शित करना चाहिए।

डार्विन आदि वैज्ञानिक मानते हैं कि पहले पृथ्वी पृष्ठ में जीव नहीं था, किंतु रासायनिक प्रक्रिया के माध्यम से क्रमशः निम्न श्रेणीय जीवों की सृष्टि हुई। इस जीव-जाति में क्रमशः परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन के फलस्वरूप मनुष्य जाति की सृष्टि हुई।

यदि जाति समुदाय परिवर्तित हो करके, अन्य जाति रूप में परिणमन होता तो अभी तक पहले की अनेक जातियाँ पृथ्वी पृष्ठ में कैसे दिखाई देती हैं? यदि बंदर जाति ही परिवर्तित होकर मनुष्य हुआ तब वर्तमान में भी बंदर से मनुष्य जाति की सृष्टि क्यों नहीं होती। खाद्य-ग्रहण आदि संचार के कारण बंदरों की पूछें कटते-कटते जब पूर्णतः कट गयी, तब

वर्तमान में भी बंदरों की पूंछें कैसे उपलब्ध होती हैं? अभी भी बंदर खाद्य-आहरण के लिए संचार करते हैं तो क्या उनकी पूंछ घिसने का प्रकरण प्राप्त होता है या नहीं? जिराफ अभी भी ऊँचे वृक्ष से पत्ते खाते हैं तो उनकी गर्दन पहले से अभी अधिक बड़ी क्यों नहीं होती है?

कोई कह सकता है कि जैसे-चावल, गुड़ आदि अनशीली (अमादक) वस्तु भी संयोग के कारण कुछ समय के बाद नशा उत्पन्न करने वाली हो जाती है, उसी प्रकार अचेतन रूप वस्तुओं के संयोग से चेतना शक्ति भी उत्पन्न करने वाली हो सकती है। किंतु यह सिद्धांत संपूर्ण अमूलक हैं। क्योंकि जो चावल, गुड़ आदि में अप्रगट रूप से अचेतना रूप नशा था वही नशा संयोग के कारण अचेतन शक्ति युक्त नशा के रूप में प्रगट हो गया। मद्य का नशा, चेतनात्मक नहीं है क्योंकि इस नशे में चेतना गुण नहीं है। इसे नशे में सुख-दुख, हर्ष-विषाद विवेक-अविवेक, मन, शक्ति, आहार, भय, मैथुन, संज्ञादि जो जीव के गुण हैं वे पाये नहीं जाते हैं। इसलिए सिद्ध हुआ कि पुद्गल के संयोग से जो शक्ति उत्पन्न होती है वह पौद्गलिक ही है। पदार्थ में वस्तुतः परिणमन शक्ति है किंतु वह परिणमन अपने द्रव्यत्व एवं गुण को छोड़कर अन्यत्वरूप में परिणमन नहीं करता है। एक समय में मिट्टी विद्युत् रूप परिणमन कर सकती है किंतु किसी भी प्रकार से निर्जीव रसायन की शक्ति से उसमें चेतन शक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि द्रव्य दृष्टि से मिट्टी एवं विद्युत् शक्ति एक ही है इसलिए मिट्टी परिवर्तित होकर विद्युत शक्ति रूप हो सकती है। किंतु निर्जीव-रसायन-शक्ति एवं जीव की चेतना-शक्ति दोनों द्रव्य एवं गुण दृष्टि से अत्यंत पृथक् हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निर्जीव से सजीव की सृष्टि नहीं हो सकती है।

9. मृतक -

यदि भौतिक पदार्थों के मिश्रण से ज्ञानादि गुण प्रकट होते हैं एवं पंचभूत का समुदाय ही जीव है, तब मृतक शरीर में पाँचों भूत पाए जाते हैं तो भौतिक मृतक शरीर क्यों भौतिकवाद का प्रतिपादन नहीं करता है? भौतिक मृतक शरीर के अपने भौतिकवाद की पुष्टि करने के लिए एवं प्रत्यक्ष प्रमाण दर्शाने के लिए प्रत्यक्ष से वाद-विवाद करना चाहिए। मृतक शरीर में पौद्गलिक इन्द्रियादि होने पर भी इन इन्द्रियों का कार्य क्यों नहीं होता

है? और तो और जब उस शरीर को ज्वलन्त अग्नि में डालते हैं, तब अपनी रक्षा करने के लिए वह विरोध तक क्यों नहीं करता है एवं वहाँ से भाग क्यों नहीं जाता है? भौतिक वस्तु के संयोग से चेतन शक्ति उत्पन्न होने पर जब शव को अग्नि किंवा जल में डालते हैं, उस समय भौतिक वस्तु के संयोग के कारण चेतन-शक्ति की और अधिक वृद्धि होनी चाहिए, जैसे अग्नि में घृत डालने से अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है। इस प्रकार समस्त सिद्धांतों से यह निष्कर्ष निकलता है कि जीव एक अनादि अनिधन अकृत्रिम चेतन स्वरूप वस्तु है।

उपयोग तथा दर्शनोपयोग के भेद

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खु ओही दंसणमध केवलं णेयं।। 4
उपयोगः द्विविकल्पः दर्शनं ज्ञानं च दर्शनं चतुर्धा।
चक्षुः अचक्षुः अवधिः दर्शनं अथ केवलं ज्ञेयम्।।

Upayoga is of two kinds, Dharshana and Gnana. Dharshana is of four kinds.

Darshana is known to be (divided into) Chakshu, Achakshu; Avadhi and Kevala.

दर्शन और ज्ञान इन भेदों से उपयोग दो प्रकार का है। उनमें चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल दर्शन इन भेदों से दर्शनोपयोग चार प्रकार का जानना चाहिए।

उपयोग जीव का सर्वश्रेष्ठ विशिष्ट गुण है। आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्र में जीव का स्वरूप कहते हुए कहा है कि ''उपयोगो लक्षणम्'' अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है।

The Lakshna or differentia of soul is upayoga, attention, consciousness, attentiveness.

पंचास्तिकाय में कुंदकुंद देव ने इसका वर्णन सविस्तार से निम्न प्रकार किया हैः-

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि।।

गा. 40 पृ.सं. 138

उपयोग वास्तव में दो प्रकार है। ज्ञान और दर्शन से संयुक्त अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। यह सर्वकाल इस जीव से एक रूप है जुदा नहीं है ऐसा मानो।

वत्थुणिमित्तं भावो, जादो जीवस्स दु उवयोग।

जीव का जो भाव वस्तु को (ज्ञेय को) ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है, उसको उपयोग कहते हैं।

जीव में स्व- पर को जानने योग्य अनुभव करने योग्य जो शक्ति विशेष है उसको उपयोग कहते हैं। इस उपयोग के सामान्यतः दो भेद हैं। (1) दर्शनोपयोग (2) ज्ञानोपयोग। सामान्य सत्ता अवलोकन रूप जो निर्विकल्पक उपयोग है उसे दर्शन उपयोग कहते हैं और विशेष जानने रूप सविकल्प उपयोग होता है उसे ज्ञानोपयोग कहते हैं। इस गाथा में आचार्य श्री ने उपयोग के सामान्य रूप से दो भेद बताकर उसमें से दर्शन उपयोग का विशेष वर्णन किया है क्योंकि ज्ञानोपयोग का वर्णन अधिक होने के कारण उसका वर्णन अग्रिम गाथा में किया है एवं दर्शनोपयोग का वर्णन कम होने के कारण इस गाथा में पहले ही कर लिया है।

दर्शन उपयोग के चार भेद हैं (1) चक्षु दर्शन (2) अचक्षु दर्शन (3) अवधि दर्शन (4) केवल दर्शन।

(1) चक्षु दर्शन– अनादि कर्म बंध के आधीन जीव के चक्षु दर्शनावरण के क्षयोपशम से जो चक्षु के द्वारा बहिरंग एवं अंतरंग कारणों के अवलंबन से स्थूल मूर्तिक वस्तुओं का दर्शन होता है उसे चक्षु दर्शन कहते हैं। दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम, शरीर, अंगोपांग नाम कर्म के उदय से जो चक्षु इन्द्रिय की बहिरंग एवं अंतरंग रचना होती है, उसके माध्यम से योग्य क्षेत्र में स्थित स्थूल मूर्तिक द्रव्यों का जो दर्शन होता है, उसे चक्षु दर्शन कहते हैं। इस दर्शन के लिए यथायोग्य प्रकाश की भी आवश्यकता है।

(2) अचक्षु दर्शन – चक्षु को छोड़कर अन्य इन्द्रियों को अचक्षु कहते हैं। यथा–स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिया, घ्राण इन्द्रिय, कर्ण इन्द्रिय तथा मन को अचक्षु कहते हैं। स्पर्शन, रसना घ्राण तथा कर्म इन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से और निज–निज बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के अवलंबन से मूर्त्त सत्ता सामान्य को परोक्ष रूप एकदेश जो विकल्प रहित देखता है वह अचक्षु दर्शन है। उदाहरण के स्वरूप स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा जो सामान्य स्पर्शन का भास होता है वह स्पर्शन इन्द्रिय संबंधी अचक्षु दर्शन हैं। इसी प्रकार रसना, घ्राण, कर्ण संबंधी अचक्षु दर्शन है।

मानस अचक्षु दर्शन– मन–नो–इन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से तथा सहकारी कारणभूत जो आठ पाँखुड़ी कमल के आकार द्रव्य मन है, उसके अवलंबन से मूर्त तथा अमूर्त्त ऐसे समस्त द्रव्यों में विद्यमान सत्ता सामान्य को परोक्षरूप से विकल्प रहित जो देखता है, वह मानस अचक्षुदर्शन है।

(3) अवधि दर्शन –अवधि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मूर्त्त वस्तु का एकदेश प्रत्यक्ष से विकल्प रहित सत्ता सामान्य का अवलोकन अवधि दर्शन है अर्थात् अवधि ज्ञान के पहले जो सत्ता सामान्य का अवलोकन होता है उसको अवधि दर्शन कहते हैं

(4) केवल दर्शन– केवल दर्शनावरण के पूर्ण क्षय से संपूर्ण द्रव्यों का जो एक साथ सामान्य रूप से विकल्प रहित होकर प्रत्यक्ष दर्शन होता है उसे केवल दर्शन कहते हैं। केवल दर्शन, केवलज्ञान के साथ युगपत् (एक साथ) प्रवृत्त होता है।

मतिज्ञान के पहले चक्षु दर्शन एवं अचक्षु दर्शन होता है क्योंकि मतिज्ञानी छद्‌मस्थ होता है इसलिए दर्शन पूर्वक उसका ज्ञान होता है।

श्रुतज्ञान, मतिज्ञान पूर्वक होता है। मनःपर्यय ज्ञान के पहले कोई दर्शन नहीं होता है इसलिए मनःपर्यय दर्शन का वर्णन शास्त्र में नहीं पाया जाता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति सूत्र में भी कहा है–

जेण मणोविसयगयाण दंसणं णत्थि दव्वजादाणं।
तो मणपज्जव णाणं णियमा णाणं तु णिद्दिट्ठं।।

(19) पृ. 73

मनःपर्यय ज्ञान में विषयभूत पदार्थों का सामान्य रूप से ग्रहण नहीं होता, विशेष रूप से ग्रहण होता है अतएव मनःपर्यय दर्शन नहीं होता है। सामान्य रूप से ज्ञान के पहले दर्शन होता है किंतु मनःपर्यय ज्ञान में ऐसा नियम नहीं है, बिना दर्शन के ही होता है। मनःपर्यय ज्ञान में विशेष का ही ग्रहण होता है सामान्य का नहीं। अतः मनःपर्यय ज्ञान ही है, दर्शन नहीं है।

वृहद् द्रव्य संग्रह की टीका में ब्रह्मदेव सूरी ने कहा भी है–

यत्पुनर्मनपर्ययज्ञानावरण क्षयोपशमाद्वीर्यान्तराय क्षयोपशमाच्च स्वकीय मनोवलम्बनेन परकीयमनोगतं मूर्त्तमर्थमेकदेश प्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदीहामति ज्ञानपूर्वक मनःपर्ययज्ञानम्।

जो मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम से और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से अपने मन के अवलम्बन द्वारा पर के मन में प्राप्त हुए मूर्त्त पदार्थ को एक देश प्रत्यक्ष से सविकल्प जानता है, वह ईहामतिज्ञान पूर्वक मनःपर्ययज्ञान कहलाता है।

ज्ञानोपयोग के भेद

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदिओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जवकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ।। (5)

ज्ञानं अष्टविकल्पं मतिश्रुतावधयः अज्ञानज्ञानानि।
मनःपर्ययः केवलं अपि प्रत्यक्षपरोक्ष भेदं च।।

Jnana is of eight kinds, viz., Jnana and Ajnana of Mati, Sruta and Avadhi, Manah paryaya and Kevala. (It is also divided into Pratyaksha and Paroksha from another point of view)

कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय और केवल ऐसे आठ प्रकार का ज्ञान है। इनमें कुअवधि, सुअवधि, मनःपर्यय तथा केवल ज्ञान ये चार प्रत्यक्ष और शेष चार परोक्ष हैं।

चतुर्थ गाथा में आचार्य श्री ने उपयोग के भेद एवं दर्शन के भेदों का वर्णन किया है। इस गाथा में क्रम प्राप्त ज्ञानोपयोग का वर्णन किया है।

ज्ञानोपयोग सामान्यतः दो प्रकार का है। (1) परोक्ष ज्ञान (2) प्रत्यक्ष ज्ञान।

(1) मति ज्ञान (2) श्रुत ज्ञान (3) कुमति ज्ञान (4) कुश्रुत ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं। 1. देश प्रत्यक्ष, 2. सकल प्रत्यक्ष। 1. सुअवधिज्ञान, 2. मनः पर्ययज्ञान, 3. कुअवधिज्ञान तो देश प्रत्यक्ष और केवलज्ञान ही सकल प्रत्यक्ष है।

अन्य एक दृष्टिकोण से सामान्यतः ज्ञान के दो भेद हैं। 1. सुज्ञान, 2. कुज्ञान। दर्शन मोहनीय से युक्त ज्ञान कुज्ञान है। दर्शन मोहनीय से युक्त ज्ञान अधिक से अधिक तीन हो सकते हैं यथा–

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एवं अवधिज्ञान। मनःपर्यय ज्ञान सम्यक्दृष्टि संपन्न विशिष्ट मुनि को ही हो सकता है इसलिए मनःपर्ययज्ञान कभी भी मिथ्या नहीं हो सकता है। इसी प्रकार तेरहवें चौदहवें गुणस्थान और सिद्ध भगवान् को ही केवल ज्ञान होता है। इसलिए कभी भी केवल ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता है। यथायोग्य क्षयोपशम से युक्त मिथ्यादृष्टि को भी मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान और अवधि ज्ञान भी हो सकता है। इसलिए मिथ्यात्व सहित वे ही ज्ञान कुमति, कुश्रुत व कुअवधि हो जाते हैं। कुअवधि ज्ञान को विभंगावधि ज्ञान भी कहते हैं। स्वतंत्रता के सूत्र (मोक्षशास्त्र) में आचार्य उमास्वामी ने भी पाँच सुज्ञान का वर्णन करते हुए कहा है–

मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवलानि ज्ञानम्। 9

मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं।

गोम्मट्टसार जीवकांड के ज्ञानमार्गणाधिकार में ज्ञान का वर्णन करते हुए कहा भी है–

पंचेव होंति णाणा, मदिसुदओहीमणं च केवलयं।
खयउवसमिया चउरो, केवलणाणं हवे खइयं।।

गाथा. 300

सम्यग्ज्ञान पांच ही हैं। इनमें से आदि के चार ज्ञान जो क्षायोपशमिक हैं वे अपने-अपने प्रतिपक्षी मतिज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से होते

हैं। सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, सदवस्थारूप उपशम और देशघाति का उदय हो तो क्षयोपशम कहा जाता है। प्रतिपक्षी कर्म की इस अवस्था में होने वाले ज्ञान को क्षायोपशमिक कहते हैं। अंतिम केवलज्ञान क्षायिक है। वह संपूर्ण ज्ञानावरण के क्षय से प्रकट हुआ करता है।

1. मतिज्ञान के आवरण के क्षयोपशम से और इन्द्रिय-मन के अवलंबन से मूर्त-अमूर्त द्रव्य का विकलरूप से (अपूर्ण रूप से) विशेषतः अवबोधन करता है वह आभिनिबोधिकज्ञान है।

2. श्रुतज्ञान के आवरण के क्षयोपशम से और मन के अवलंबन से मूर्त-अमूर्त द्रव्य का विकलरूप से विशेषतः अवबोधन करता है वह श्रुतज्ञान है।

3. अवधिज्ञान के आवरण के क्षयोपशम से ही मूर्त द्रव्य का विकलरूप से विशेषतः अवबोधन करता है वह अवधिज्ञान है।

4. मनःपर्ययज्ञान आवरण के क्षयोपशम से ही पर मनोगत (दूसरों के मन के साथ संबंध वाले) मूर्तद्रव्य का विकलरूप से विशेषतः अवबोधन करता है वह मनःपर्ययज्ञान है।

5. समस्त आवरण के अत्यंत क्षय से, केवल (अकेला आत्मा ही) मूर्त, अमूर्त द्रव्य का सकलरूप से विशेषतः अवबोधन करता है वह स्वाभाविक केवलज्ञान है।

1. मतिज्ञान-

मदिणाणं पुण तिविहं उवलद्धि भावणं च उवओगो।
तह एवं चदुवियप्पं दंसणपुव्वं हवदि णाणं। 1 क्षेपक

पंचास्तिकाय पृ. 141

मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर पांच इन्द्रिय और मन के द्वारा जो कोई मूर्तिक और अमूर्तिक वस्तुओं को विकल्प सहित या भेद सहित जानता है वह मतिज्ञान है। सो तीन प्रकार हैं- मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो पदार्थों को जानने की शक्ति प्राप्त होती है उसको उपलब्धि मतिज्ञान कहते हैं। यह नीला है, यह पीला है इत्यादि रूप से जो पदार्थ के जानने का व्यापार उसको उपयोग मतिज्ञान कहते हैं। जाने हुए पदार्थ को बारम्बार चिन्तवन करना सो भावना मतिज्ञान है। यही मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, आवाय, धारणा के भेद से चार प्रकार हैं अथवा कोष्ठ

बुद्धि, बीज बुद्धि, पदानुसारी बुद्धि और संभिन्नश्रोतृता बुद्धि के भेद से भी चार प्रकार हैं। यह मतिज्ञान सत्ता अवलोकनरूप दर्शनपूर्वक होता है।

2. श्रुतज्ञान–

सुदणाणं पुणणाणी भणंति लद्धीय भावणा चेव।
उवओग णयवियप्पं णाणेण य वत्थु अत्थस्स।। 2

वही आत्मा जिसने मतिज्ञान से पदार्थ को जाना था, जब श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर जो मूर्त और अमूर्त पदार्थों को जानता है उसको ज्ञानी जन श्रुतज्ञान कहते हैं। वह श्रुतज्ञान जो शक्ति की प्राप्ति रूप है सो लब्धि है, जो बार–बार विचार रूप है सो भावना है। उसी के उपयोग और नय ऐसे भी दो भेद हैं। ''उपयोग'' शब्द से वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रमाण जान लेना चाहिए तथा ''नय'' शब्द से वस्तु के एक देश को ग्रहण करने वाला 'ज्ञाता का अभिप्राय मात्र' है क्योंकि कहा है 'नयो ज्ञातृ अभिप्रायः' कि नय ज्ञाता का अभिप्राय मात्र है। जो गुणपर्यायरूप पदार्थ को सर्व रूप से जानना सो प्रमाण है और उसी के किसी एक गुण या किसी एक पर्याप्त मात्र को मुख्यता से जानना सो नय है। यहां यह तात्पर्य है कि ग्रहण करने योग्य परमात्मतत्व का साधक जो विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव रूप शुद्धआत्मिक तत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व आचरण रूप जो अभेद रत्त्रयरूप भावश्रुत है, सो निश्चयनय रूप से ग्रहण करने योग्य है और व्यवहारनय से इसी भावश्रुतज्ञान के साधक द्रव्यश्रुत को ग्रहण करना चाहिए।

3. अवधिज्ञान–

ओहि तहेव घेप्पदु देसं परमं च ओहिसव्वं च।
तिण्णिविगुणेण णियमा भवेण देसं तहा णियदं।। (3)

जो अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर मूर्तिक वस्तु को प्रत्यक्ष रूप से जानता है वह अवधिज्ञान है। जैसे– पहले श्रुतज्ञान को उपलब्धि, भावना तथा उपयोग की अपेक्षा तीन भेद से कहा था वैसे यह अवधिज्ञान भावना को छोड़कर उपलब्धि तथा उपयोग स्वरूप है। अवधिज्ञान की शक्ति सो उपलब्धि है, चेतन की परिणति का उधर झुकना सो उपयोग

है तथा उसके तीन भेद और भी जानो देशावधि, परमावधि, सर्वावधि। किंतु इन तीनों में से परमावधि और सर्वावधिज्ञान उन चरमशरीरी मोक्षगामी मुनियों के होता है जो चैतन्य भाव के उछलने से पूर्ण व आनंदमय परमार्थ सुखामृत रस के आस्वादरूप परम समरसी भाव में परिणमन कर रहे हैं। जैसा कि वचन है परमोही सव्वोही चरमशरीरस्य विरदस्य ये तीनों ही अवधिज्ञान विशेष सम्यग्दर्शन आदि गुणों के कारण नियम से होते हैं तथा जो भाव प्रत्यय अवधि है अर्थात् जो देव-नारकियों के जन्म से होने वाली अवधि है वह नियम से देशावधि ही होती है। यह अभिप्राय है।

4. मनःपर्ययज्ञान-

विउलमदी पुणणाणं अज्जवणाणं च दुविह मणणाणं।
एदे संजमलद्धी उवओगे अप्पमत्तस्स। (4)

यह आत्मा मनःपर्यय ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम होने पर दूसरे के मन में प्राप्त मूर्त वस्तु को जिसके द्वारा प्रत्यक्ष जानता है वह मनःपर्ययज्ञान है। उसके दो भेद हैं- ऋजुमति और विपलुमति। इनमें विपुलमति मनःपर्ययज्ञान दूसरे के मन में प्राप्त पदार्थ को सीधा (सरल) व वक्र दोनों को जानता है जबकि ऋजुमति मात्र सीधे (सरल विषय) को ही जानता है। इनमें से विपुलमति उन चरमशरीरी मुनियों के ही होते हैं,जो निर्विकार आत्मानुभूति की भावना को रखने वाले होते हैं तथा ये दोनों ही उपेक्षासंयम की दशा में संयमियों के ही होते हैं और केवल उन मुनियों के ही होते है, जो वीतराग आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व चरित्र की भावना सहित, पन्द्रह प्रमाद रहित, अप्रमत्त गुणस्थान के विशुद्ध परिणाम में वर्त रहे हों जब यह उत्पन्न होता है तब अप्रमत्त सातवें गुणस्थान में ही होता है, यह नियम है। फिर प्रमत्त के भी बना रहता है, यह तात्पर्य है।

5. केवलज्ञान-

णाणं णयेणिमित्त केवलणाणं ण होदि सुदणाणं।
णेयं केवलणाणं णाणाणाणं च णत्थि केवलिणो।।

केवलज्ञान घटपट आदि जानने योग्य पदार्थों के आश्रय निमित्त से

नहीं उत्पन्न होता है इसलिए वह जैसे ज्ञेय पदार्थों के निमित्त से नहीं होता है वैसे ही श्रुतज्ञानरूप भी नहीं है। यद्यपि दिव्यध्वनि के समय इस केवलज्ञान के आधार से गणधर देव आदि को श्रुतज्ञान होता है तथापि वह श्रुतज्ञान गणधरदेवादि को ही होता है, केवली अरहंतों के नहीं होता है। केवली भगवान् के ज्ञान में किसी संबंध के ज्ञान व किसी में अज्ञान नहीं होता है किंतु सर्वज्ञों का बिना क्रम से ज्ञान होता है अथवा मतिज्ञान आदि भेदों से नाना प्रकार का ज्ञान नहीं है किंतु एक मात्र शुद्ध ज्ञान ही है। यहाँ जो मतिज्ञान आदि के भेद से पाँच ज्ञान कहे गए हैं, वे सब व्यवहारनय से हैं। निश्चय से अखंड एक ज्ञान के प्रकाश रूप ही आत्मा है जैसे मेघादि रहित सूर्य होता है, यह तात्पर्य है।

तर्क शास्त्र/न्याय शास्त्र के अनुसार मतिज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहा गया है परंतु आगम की दृष्टि से यह ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। इसलिए लोक व्यवहार चलाने के लिए इसे सांव्यहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

आगम की दृष्टि से अवधि ज्ञान एवं मनःपर्यय ज्ञान देश प्रत्यक्ष होते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टि से दोनों ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। जैसे- अपवाद रूप से परोक्ष मतिज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहा गया है, वैसे ही निज आत्मा के सम्मुख जो भावश्रुत ज्ञान है वह परोक्ष होते हुए भी प्रत्यक्ष कहलाता है और यदि एकांत से मति एवं श्रुतज्ञान को परोक्ष ही माना जावे तो सुख-दुःख आदि का संवेदन, अनुभूति, ज्ञान है, वह भी परोक्ष ही होगा और वह संवेदन परोक्ष नहीं है इसलिए कथंचित् मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष है।

अशुद्ध एवं शुद्ध जीव के उपयोग :-

अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा शुद्धणया सुद्धं पुण दंसणं णाणं।। (6)
अष्टचतुर्ज्ञानदर्शने सामान्यं जीव लक्षणं भणितं।
व्यवहारात् शुद्धनयात् शुद्धं पुनः दर्शनं ज्ञानम्।।

According to Vyavahara Naya, the general characteristics of Jiva are said to be eight kinds of Jnana and four kinds of Darshana. But according to Shuddha Naya (the characteristics of Jiva) are pure Jnana and Darshana.

आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का जो धारक वह जीव है यह व्यवहारनय से सामान्य जीव का लक्षण है और शुद्धनय से शुद्ध जो ज्ञान, दर्शन है वह जीव का लक्षण कहा गया है।

व्यवहार नय से सामान्यतः जीव का लक्षण–8 ज्ञान एवं 4 दर्शन है। इसका भावार्थ यह है कि किसी विवक्षा के बिना संपूर्ण जीव में उपरोक्त ज्ञान में से कोई न कोई ज्ञान अवश्य रहेगा ही। शुद्ध निश्चय नय से जीव का लक्षण शुद्ध दर्शन एवं ज्ञानमय है यह कथन ''शुद्ध सद्भूत'' शब्द से वाच्य कहने योग्य ''अनुपचरित सद्भत'' व्यवहार नय है और छद्मस्थ ज्ञान, दर्शन की अपेक्षा से तो अशुद्ध सद्भूत शब्द से वाच्य ''उपचरित सद्भूत'' व्यवहार नय है तथा कुमति, कुश्रुत, विभंग इन तीनों में उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है और शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध अखंड, केवलज्ञान तथा दर्शन ये दोनों ही जीव के लक्षण हैं।

निश्चय से जीव अमूर्त व्यवहार से जीव मूर्त

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।। 7
वर्णाः रसाः पंच गन्धौ द्वौ स्पर्शाः अष्टौ निश्चयात् जीवे।
नो सन्ति अमूर्तिः ततः व्यवहारात् मूर्तिः बंधतः।।

According to Nischaya Naya, Jiva is without form; because the five kinds of colour and taste; two kinds of smell, and eight kinds of touch are not present in it. But according Vyavahara Naya (Jiva) Form through the bandage (of Karma)

निश्चय से जीव में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श नहीं है इसलिए जीव अमूर्त है और बंध से व्यवहार की अपेक्षा करके जीव मूर्त है।

विश्व के छह मौलिक द्रव्य में से केवल पुद्गल द्रव्य ही स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से युक्त होने के कारण मूर्तिक है और अन्य सब द्रव्य अमूर्तिक है तथापि संसारी जीव व्यवहार नय से मूर्तिक है क्योंकि अनादिकाल से संसारी जीव पौद्‌गलिक कर्म से युक्त होने के कारण व्यवहार नय से मूर्तिक है। देवसेन आचार्य ने आलापपद्धति में कहा भी है–

जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभावः।।

श्लो. 164 ऋ पृ. 173

असद्‌भूतव्यवहार उपनय की अपेक्षा जीव के भी मूर्त स्वभाव है। यदि एकांततः संसारी जीव को भी अमूर्तिक स्वीकार किया जाएगा तो अमूर्तिक जीव मूर्तिक कर्मों को न आकर्षित/आस्रव कर सकता है न बंध कर सकता है। आास्रव एवं बंध से रहित जीव की संसार अवस्था भी नहीं रह सकती। संसार के बिना मोक्ष भी नहीं हो सकता क्योंकि बंधनपूर्वक मोक्ष होता है। संसार का भी अभाव नहीं मान सकते हैं क्योंकि संसार की उपलब्धि प्रत्यक्ष है, क्योंकि संसार के कर्म परतंत्र, रोग द्वेष से युक्त जीव पाए जाते हैं। यदि संसारी जीव भी व्यवहार नय से अमूर्तिक है तो फिर सचित्त एकेन्द्रिय आदि जीव के शरीर में छिन्दभिन्द करने पर उस शरीर में स्थित जीव को कष्ट नहीं होता और द्रव्य हिंसा भी नहीं होती। इसलिए धवला आदि सिद्धांत ग्रंथ में कहा गया है कि ''अनादि काल से बंधन में बद्ध रहने के कारण जीव के अमूर्तत्व का अभाव है।''

संसारी जीव पौद्गलिक कर्मोदय से एवं पौद्गलिक बाह्य अस्त्र, औषध, विष, पानी, अग्नि आदि से भी प्रभावित होता है। यदि संसारी जीव भी अमूर्तिक होता तो उपर्युक्त पौद्गलिक द्रव्यों से प्रभावित नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण यह है कि क्षुधावेदनीय आदि पौद्गलिक कर्म के उदय से भूख नहीं लगती और योग्य भोजन करने पर भी भूख नहीं मिटती। अमृतचंद सूरी ने संसारी जीव को मूर्तिक सिद्ध करते हुए कहा है–

तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात्।
नह्यमूर्त्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी।।

श्लो. 19 तत्वार्थसार

आत्मा मूर्तिक होने के कारण मदिरा से पागल हो जाता है, किंतु

अमूर्तिक आकाश को मदिरा मदकारिणी नहीं होती है।

''यथा खलु पयः पूरः प्रदेशस्वादाभ्यां पिचुमन्दचन्दनादिवनराजी परिणमन्न द्रवत्यस्वादुत्व स्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरूप रागविशुद्धिम् स्वभावमुपलभते।''

जैसे पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निम्ब, चन्दनादि वनराजिरूप परिणमित होता हुआ द्रवत्व और स्वादुत्वरूप स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित होने से अमूर्तत्व और विकाररहित विशुद्ध स्वभाव को उपलब्ध नहीं करता।

जीवाजीवं दव्वं रुवारुवित्ति होदि पत्तेयं।
संसारत्था रूवा कम्मविमुक्का अरूवगया।।

गो. जीवकाण्ड, (563)

संसारी जीव रूपी/मूर्तिक है और कर्मरहित सिद्ध जीव अमूर्तिक है।

''कम्मसंबंधवसेण पोग्गलभावमुवगय जीवदव्वाणं।
च पच्चक्खेण परिच्छित्तिं कुणइ ओहिणाणं।

जयधवल पु. 1 पृ 43

कर्म के संबंध से पुद्गल भाव को प्राप्त हुए जीवों को जो प्रत्यक्ष रूप से जानता है, वह अवधिज्ञान है। धवल पु. 13 पृ 333 पर भी इसी प्रकार कहा है।

''अनादिबन्धनबद्धत्वतो मूर्तानां जीवावयवानां मूर्तेण शरीरेण सम्बन्धं प्रति विरोधासिद्धः।''

धवल पु. 1 पृ. 292

जीव के प्रदेश अनादिकालीन बंधन से बद्ध होने के कारण मूर्त हैं अतः उनका मूर्त शरीर के साथ संबंध होने से कोई विरोध नहीं आता।

आलापपद्धति पृ. 147

परंतु शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध जीव तथा संसारी जीव भी अमूर्तिक है। यदि शुद्ध निश्चय नय से अर्थात् स्वाभाविक दृष्टि से जीव मूर्तिक होता तो सिद्ध अवस्था में भी जीव मूर्तिक ही होता परंतु सिद्ध अवस्था में अमूर्तिक है।

ये सब नय विवक्षा में अनेकांत दृष्टि से ही सिद्ध होता है क्योंकि हर विषय की सिद्धि अनेकांत से होती है एकांत से नहीं। कहा भी है–

बंध पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स भिण्णत्तं।
तम्हा अमुत्ति भावो णेगंतो होदि जीवस्स।।

बंध के प्रति जीव की एकता है और लक्षण से उसकी भिन्नता है, इसलिए जीव के अमूर्तिक भाव एकांत से नहीं हैं।

रूवरसगंधफासा सद्दवियप्पा वि णत्थि जीवस्य।
णो संठाणं किरिया तेण अमुत्तो हवे जीवो।।

119 नयचक्र, पृ. 71

जीव में न रूप है, न रस है, न गंध है, न स्पर्श है, न शब्द के विकल्प है, न आकार है न क्रिया है इस कारण से जीव अमूर्तिक है।

जो हु अमुत्तो भणिओ जीव सहावो जिणेहि परमत्थो।
उवयरियसहावादो अचेयणो मुत्तिसंजुत्तो। 120

जिनेंद्र देव ने जो जीव को अमूर्तिक कहा है वह जीव का परमार्थ स्वभाव है। उपचारित स्वभाव से तो मूर्तिक और अचेतन है।

कर्त्ता के विभिन्न रूप

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं। 8
पुद्गलकर्मादीनां कर्त्ता व्यवहारतः तु निश्चयतः
चेतनकर्मणां आत्मा शुद्धनयात् शुद्धभावानाम्।।

According to Vyavhara Naya is the doer performer of the Pudgala Karmas. According to Nischaya Naya (Jiva is the doer performer of) Thought Karmas. According to Shuddha Naya (Jiva is the doer) of Shuddha Bhavas.

आत्मा व्यवहार से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है, निश्चय से चेतन कर्म का कर्त्ता है और शुद्ध नय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

इस गाथा में जीव के विभिन्न कर्त्तृत्वभावों का वर्णन किया गया है।

व्याकरण की दृष्टि से ''स्वतंत्र कर्त्ता'' अर्थात् जो कर्म को स्वतंत्र रूप से करता है उसे कर्त्ता कहते हैं। जीव भी विभिन्न अवस्था में विभिन्न कर्मों का कर्त्ता बनता है। उपचरित असद्‌भूत व्यवहार नय से ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म का तथा आदि शब्द से औदारिक, वैक्रियक और आहारक रूप तीन शरीर तथा आहार आदि छह पर्याप्तियों के योग्य जो पुद्‌गल पिण्ड रूप नो/ ईषत् कर्म है उसका कर्त्ता है। स्थूल व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् उपचरित असद्‌भूत व्यवहार नय से घट, पट, कुर्सी, टेबल, घर, चटाई, विभिन्न वैज्ञानिक उपकरण, ईंट, मूर्ति आदि का भी जीव कर्त्ता है। निश्चय नय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चय नय से जीव चेतन कर्म अर्थात् मिथ्यात्व भाव, ईर्ष्या भाव, घृणा, द्वेष, लोभ, काम प्रवृति, अहं प्रवृति का कर्त्ता है परंतु परम शुद्ध निश्चय नय से जीव शुद्ध-बुद्ध, नित्य-निरंजन, सच्चिदानंद स्वरूप स्वभाव में परिणमन करता है तब अनंत ज्ञान, अनंत अतीन्द्रिय सुखादि भावों का कर्त्ता होता है। छद्मस्थ अवस्था में भावना रूप विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चय नय से स्वभाव का कर्त्ता भी होता है परंतु केवली एवं मुक्त अवस्था में तो शुद्ध निश्चय नय से पूर्णरूप से अनंत ज्ञानादि भावों का कर्त्ता होता है। वस्तुतः यहाँ जो आध्यात्मिक दृष्टि है उसकी अपेक्षा अशुभ, शुभ, शुद्ध भावों का जो परिमणन है, उसी का कर्त्तृत्ववपना यहाँ कहा गया है, न कि हस्तपादादि से जो कार्य किया जाता है उसे यहाँ कर्त्तापने में स्वीकार किया गया है और एक विशेष आध्यात्मिक दृष्टि यह है कि शुद्ध निश्चय नय से जो शुद्ध भावों का कर्त्ता कहा गया है उसका अर्थ यह है कि उन शुद्ध भावों का जीव वेदन करता है न कि उन शुद्ध भावों का निर्माण करता है या बनाता है। प्राचीन आचार्यों ने भी जीव के विभिन्न कर्त्तापने का वर्णन विभिन्न दृष्टिकोण से किया है। यथा-

जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गल परिणमदि।
पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदे।।

गा. 18 समयसार

जीव परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गल कर्मभाव से परिणमन करते हैं। इसी प्रकार दैव (कर्म) को शक्ति प्रदान करने वाला पुरुष परम पुरुषार्थ से हीन पुरुषार्थ है और उस शक्ति के अनुशासन में शासित होने वाला पुरुष

है। जब पुरुष उसको शक्ति प्रदान करता है, तब दैव विभिन्न रूप धारण करके विभिन्न कार्य करता है।

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेय विहं।
मंसवसारुहिरादिभावे उदराग्गे संजुत्तो।।

जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि से युक्त हुआ अनेक प्रकार मांस, रुधिर आदि भावों रूप परिणमता है, उसी प्रकार कर्म पुद्गल भी जीवों के रागादि भावों को प्राप्त करके 8 प्रकार अथवा अनेक प्रकार दैव रूप में परिणमन करता हैं

भावो कम्म णिमित्तो कम्मं पुण भाव कारणं हवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं।।

गा. 60 पंचास्तिकाय

निर्मल चैतन्यमई ज्योति स्वभाव रूप शुद्ध जीवास्तिकाय से प्रतिपक्षी भाव जो मिथ्यात्व व रागादि परिणाम है वह कर्मों के उदय से रहित चैतन्य का चमत्कार मात्र जो परमात्मा स्वभाव है, उससे उल्टे जो हृदय में प्राप्त कर्म है, उनके निमित्त से होता है तथा ज्ञानावरण आदि कर्मों से रहित जो शुद्धात्म तत्त्व है, उससे विलक्षण जो नवीन द्रव्यकर्म है सो निर्विकार शुद्ध आत्मा की अनुभूति से विरुद्ध जो रागादि भाव हैं उनके निमित्त से बंधते हैं। ऐसा होने पर भी जीव संबंधी रागादिभावों का और द्रव्य कर्मों का परस्पर उपादान कर्ता जीव ही है तथा द्रव्यकर्मों का उपादानकर्त्ता कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल ही है। दूसरे व्याख्यान से यह तात्पर्य है कि यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से विचार किए जाने पर जीव रागादि भावों का कर्त्ता है यह बात सिद्ध है।

आदा कम्म मिलिमसो परिणामं लहदि कम्म संजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामे ।।

121 प्रवचन सार

''संसार'' नामक जो यह आत्मा का तथाविध उस प्रकार का परिणाम है वही द्रव्यकर्म के चिपकने का बंध हेतु है, अब उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है? इसके उत्तर में कहते हैं कि द्रव्यकर्म उसका हेतु है क्योंकि द्रव्य कर्म की संयुक्तता से ही वह बंध है।

ऐसा होने से इतरेतराश्रय दोष आएगा क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के

साथ संबद्ध आत्मा का जो पूर्व का द्रव्यकर्म है उसका वहां हेतु रूप से ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा आत्मा का तथाविध परिणाम का कर्त्ता भी उपचार से द्रव्य कर्म ही है और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्त्ता भी उपचार से है।

जीव परिणाम हेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि।। 86
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्ण णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि। 87

यद्यपि जीव के रागद्वेष परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीवकर्म के गुण रूपादिक को स्वीकार नहीं करता, उसी भाँति कर्म भी जीव के चेतनादिक गुणों को स्वीकार नहीं करता किंतु मात्र इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सकेण भावेण।
पुग्गल कम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।

गा.88 समयसार

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त कारणपना है इसका व्याख्यान किया गया है।

व्यवहार नय से भिन्न षट्कारक के अनुसार जीव के रागद्वेष निमित्त पाकर कर्मपरमाणु, द्रव्यकर्म रूप में परिणमन करता है। द्रव्य कर्म के उदय से भाव कर्म उत्पन्न होते हैं परंतु निश्चयनय से एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्त्ता नहीं होने से जीव के परिणाम का हेतु पुद्गल नहीं है एवं पुद्गल के परिणाम का हेतु जीव नहीं है। पंचास्तिकाय में कहा है–

''निश्चयनयेनाभिन्नकारकत्वाकर्मणो
जीवस्य च स्वयं स्वरूप कर्तृत्वमुक्तम्।''

निश्चय से अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वयं स्वरूप के अपने-अपने रूप के कर्त्ता हैं। निश्चय से जीव, पुद्गल का कर्त्ता नहीं होने पर भी व्यवहार नय से कर्त्ता है।

यदि एकान्ततः निश्चयनय के समान व्यवहारनय से भी जीव, कर्म का कर्त्ता नहीं है तब अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जायेंगे। व्यवहार से भी जीव कर्म का कर्त्ता नहीं होने पर कर्मबंधन नहीं होगा, कर्मबंध के अभाव से संसार का अभाव हो जाएगा। संसार के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जाएगा, जो कि आगम, तर्क, प्रत्यक्ष एवं अनुभव विरुद्ध है। निश्चयनय का विषय व्यवहार से संयोजना करके शिष्य, गुरुवर्य कुन्दकुन्दाचार्य से निम्न प्रकार प्रश्न करता है।

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं।
किध तस्स फलं भुञ्जदि अप्पा कम्मं च देदि फलं।।

गा. 63 पंचांस्तिकाय प्राभृत

आगे पूर्वोक्त प्रकार के अभेद छह कारक का व्याख्यान करते हुए निश्चयनय से यह व्याख्यान किया गया है। इसे सुनकर 'नयो' के विचारों को न जानता हुआ शिष्य एकांत का ग्रहण करके पूर्व पक्ष करता है।

यदि द्रव्यकर्म एकांत से बिना जीव के परिणाम की अपेक्षा करता है और वह आत्मा अपने को ही करता है- द्रव्यकर्म को नहीं करता है तो किस तरह आत्मा का उस बिना किए हुए कर्म के फल को भोगता है और यह जीव से बिना किया हुआ कर्म आत्मा को फल कैसे देता है? इस प्रश्न का आगमोक्त यथार्थ प्रत्युत्तर देते हुए कुन्दकुन्द स्वामी बताते हैं-

''निश्चयेन जीवकर्मणोश्चैककर्तत्वेऽपि व्यवहारेण कर्मदत्तफलोपलंभो जीवस्य न विरुद्धयत इत्यत्रोक्तम्।''

जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढ़गहणपडिबद्धा।
काले विभुज्जमाणा सुहदुक्खं दिंति भुंजन्ति।। 67

आगे शिष्य ने जो पूर्वपक्ष किया था कि बिना किए हुए कर्मों का फल जीव किस तरह भोगता है उसी का उत्तर नय विभाग से जीव फल को भोगता है ऐसा युक्तिपूर्वक दिखाते हैं।

संसारी जीवों के अपने-अपने रागादि परिणामों के निमित्त से तथा पुद्गलों में स्निग्ध-रुक्ष गुण के कारण द्रव्य-कर्मवर्गणायें जीव के प्रदेशों मे जो पहले से ही बंधी हुई होती हैं वे ही अपनी स्थिति के पूरे होते हुए उदय में आती हैं तब अपने अपने फल को प्रगट कर झड़ जाती है, उसी समय वे कर्म अनाकुलता लक्षण जो पारमार्थिक सुख है उससे विपरीत परम आकुलता को उत्पन्न करने वाले सुख तथा दुःख उन जीवों का मुख्यता से देती है, जो मिथ्यादृष्टि है अर्थात् जो निर्विकार चिदानंदमयी एकस्वरूपभाव जीव को और मिथ्यात्व रागादि भावों को एक रूप ही मानते हैं और जो मिथ्याज्ञानी हैं अर्थात् जिनको यह ज्ञान है कि जीव रागद्वेष-मोहादि रूप ही होते हैं तथा जो मिथ्याचारित्री हैं अर्थात् जो अपने को रागादि के परिणमन करते हुए जीव अभ्यंतर में अशुद्ध निश्चय से ही हर्ष या विषाद रूप तथा व्यवहार से बाहरी पदार्थों में नाना प्रकार इष्ट-अनिष्ट इन्द्रियों के विषयों के प्राप्ति रूप मधुर या कटुक विष के रस के आस्वादन रूप सांसारिक सुख या दुःख की वीतराग परमानन्दमयी सुखामृत के रसास्वाद के भोग को न पाते हुए भोगते हैं, ऐसा अभिप्राय जानना।

एवं कत्ता भोत्ता होज्जं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंच्छण्णो।। 69

इस प्रकार अपने कर्मों से कर्त्ता भोक्ता होता हुआ आत्मा मोहाच्छादित वर्तता हुआ अनंत संसार में परिभ्रमण करता है।

इस प्रकार प्रगट प्रभुत्व शक्ति के कारण जिसने अपने कर्मों द्वारा कर्त्तव्य एवं भोक्तृत्व का अधिकार ग्रहण किया है ऐसे इस आत्मा को अनादि मोहाच्छादितपने के कारण विपरीत अभिनिवेश की उत्पत्ति होने से सम्यग्ज्ञान ज्योति अस्त हो गई है, इसलिए यह सान्त अथवा अनंत संसार में परिभ्रमण करता है।

जं जं जे जे जीवा पज्जाणं परिणमंति संसारे।
रायस्स य दोसस्स य मोहस्स वसा मुणेयव्वा।। 988

संसार में जो जो जीव जिस जिस पर्याय में परिणमन करते हैं वे सब रागद्वेष और मोह के वशीभूत होकर ही परिणमते हैं, ऐसा जानना।

भोक्ता के विभिन्न रूप

ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।।9

व्यवहारात् सुखदुःखं पुद्गल कर्मफलं प्रभुङ्क्ते।
आत्मा निश्चयनयतः चेतनभावं खलु आत्मनः।।

According to Vyavahara Naya, Jiva enjoys happiness and misery as fruits of Pudgala karmas, According to Nischaya Naya, Jiva has conscious Bhavas only.

आत्मा व्यवहार से सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मों को भोगता है और निश्चय नय से आत्मा चेतन स्वभाव को भोगता है।

क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। न्यूटन के तृतीय गति सिद्धांतानुसार-

To every action, there is an equal and opposite reaction.

अर्थात् जहाँ क्रिया है, वहां पर उसकी प्रतिक्रिया भी होती है एवं प्रतिक्रिया उस क्रिया की विपरीत समानुपाती क्रिया होती है। जो जैसा करता है, वह उसी प्रकार उसका भोक्ता भी होता है। जैसे बबूल के वृक्ष बोने पर बबूल का वृक्ष उत्पन्न होगा और उसमें बबूल की ही फलियाँ लगेंगी, आम के बीज बोने पर आम के वृक्ष ऊगेंगे एवं उसमें आम के फल लगेंगे। इसलिए कहते हैं "As you sow, sow you reap" अर्थात् जैसा बोयेगें वैसा काटेंगे व पायेंगे। आत्मानुशासन में गुणभद्र स्वामी ने कहा भी है।

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृतां कर्माशुभं व शुभं।
यद्दैव यदुदीरणादनुभवन् दुःख सुख वागतम्।।

जीव ने पूर्व भव में जिस अशुभ भाव रूप कर्त्तापने से पाप कर्म का एवं शुभभाव रूप कर्त्तापने से पुण्य कर्म का संचय किया है वह दैव है उसकी उदीरणा उदय से यथाक्रम से दुःख एवं सुख का अनुभव करता है।

गोस्वामी तुलसी दास ने भी कहा है-

कर्म प्रधान विश्व करिराखा।

जो जस करहि फलहि तस चाखा।।

अमित गति आचार्य ने कहा भी है–

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृत्तं कर्मं निरर्थकं तदां।। (30)

पहले जो जीव पुण्य एवं पाप कर्म करता है उसका ही फल शुभ एवं अशुभ रूप से प्राप्त करता है। यदि कोई दूसरे के द्वारा किए गए शुभ एवं अशुभ फल को प्राप्त होने लगे तो स्वयं किया हुआ कर्म निरर्थक हो जाएगा।

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोऽपि कस्याऽपि ददापि किंचन्।
विचार यन्नेवमनन्य मानसः
परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्।। 3

अपने उपार्जित कर्म छोड़कर कोई भी प्राणी किसी भी प्राणी को कुछ भी सुख या दुःख नहीं देता है ऐसा विचार करते हुए हे आत्मन्। तू एकाग्रचित हो और दूसरा देता है इस बुद्धि को छोड़।

जीव उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से इष्ट तथा अनिष्ट पांचों इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न सुख एवं दुःख को भोगता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से अंतरंग में सुख तथा दुःख को उत्पन्न करने वाला द्रव्य कर्म रूप पुण्य एवं पाप का उदय है उसको भोगता है। अशुद्ध निश्चयनय से हर्ष तथा विषाद रूप सुख–दुःख को भोगता है और शुद्ध निश्चयनय से रत्नत्रय से उत्पन्न अविनाशी अतीन्द्रिय अक्षय आनंद रूप सुखामृत को भोगता है।

जीव का प्रदेशत्व स्वभाव

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छ्यणदो असंखदेसो वा।। 10
अणुगुरु देह प्रमाणः उपसंहारप्रसर्पतः चेतयिता।

असमुद्घातात् व्यवहारात् निश्चयनयतः असंख्यदेशो वा।।

According to Vyavahara Naya, the conscious Jiva, being without Samudghata, becomes equal in extent to a small or a large body, by contraction and expansion; but according to Nischaya Naya (it) exist in innumerable Pradesas.

व्यवहार नय से समुद्घात अवस्था के बिना यह जीव, संकोच तथा विस्तार से छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चयनय से जीव असंख्यात प्रदेशों का धारक है।

जीव में संकोच-विस्तार करने की शक्ति है, जिस प्रकार रबड़, प्लास्टिक आदि में संकोच-विस्तार की शक्ति होती है। इस संकोच-विस्तार की शक्ति के कारण ही जीव संसार अवस्था में शरीर-नाम-कर्म के उदय से जिस छोटे-बड़े शरीर को प्राप्त करता है उस शरीर के आकार रूप यह जीव हो जाता है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश छोटे-बड़े कमरे के कारण संकोच-विस्तार को प्राप्त हो जाता है।

आचार्य उमा स्वामी ने कहा भी है-

प्रदेशसंहार विसर्पाभ्याम् प्रदीपवत् । अ. 2

(16 स्वतंत्रता के सूत्र पृ. 289)

प्रदेश संहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् लोकाकाशे असंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति।

क्योंकि प्रदीप के समान जीव के प्रदेशों का संकोच और विस्तार होता है। लोकाकाश में जितने प्रदेश होते हैं, उतने ही प्रदेश एक जीव द्रव्य में होते हैं। यहां प्रश्न स्वाभाविक है कि दोनों के प्रदेश समान हैं तो एक लोकाकाश में एक जीव रह सकता है, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात, अनंत नहीं? इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है।

कार्माण शरीर के वश से ग्रहण किए गए सूक्ष्म एवं बादर शरीर के अनुसार अनुवर्तन होना संहार और विसर्प है। अमूर्त स्वभाव वाला भी आत्मा अनादि संबंध के प्रति एकत्व होने से कथंचित् मूर्तता को धारण

किए हुए है और लोकाकाश के बराबर इसके प्रदेश हैं फिर भी जब यह कार्माण शरीर के कारण ग्रहण किए गए सूक्ष्म शरीर में रहता है तथा इसके प्रदेशों का शुष्क चर्म के समान संकोचित होकर प्रदेशों का संहार हो जाता है। जब कार्माण शरीर के कारण बादर शरीर में रहता है तब जल में तेल के समान प्रदेशों का फैलाव होकर विसर्पण हो जाता है।

उस संकोच-विस्तार के कारण प्रदीप के समान लोक के असंख्येयादि भागों में जीव रहता है। जैसे- निरावरण आकाश प्रदेश में रखे हुए प्रदीप का आकाश बहुदेशव्यापी होने पर भी सिकोरा, मानिका और कमरे आदि आवरण के कारण सिकोरा आदि परिमाण वाला हो जाता है अर्थात् निरावरण आकाश प्रदेश में बहुत दूर तक व्याप्त होकर रहने वाला भी दीपक का प्रकाश हो जाता है अर्थात् उतने में ही सीमित हो जाता है, उसी प्रकार संहार और विसर्प स्वभाव होने के कारण दीपक के समान आत्मा के भी असंख्येय एक भागादि में परिछिन्न वृत्ति जाननी चाहिए।

पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्द देव ने भी कहा है-

जह पउमरायरयणं खित्त खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमित्तं पभासयदि।।

33 पृ.123

जिस प्रकार पद्मरागरत्न दूध में डाला जाने पर अपने से अभिन्न प्रभा समूह द्वारा उस दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव अनादिकाल से कषाय द्वारा मलिनता के कारण प्राप्त शरीर में रहता हुआ स्वप्रदेशों द्वारा उस शरीर में व्याप्त होता है और जिस प्रकार अग्नि के संयोग से उस दूध में उफान आने पर उस पद्मरागरत्न के प्रभा समूह में उफान आता है। अर्थात् वह विस्तार को प्राप्त होता है और दूध बैठ जाने पर प्रभा समूह भी बैठ जाता है, उसी प्रकार विशिष्ट आहारादि के वश में उस शरीर में वृद्धि होने पर उस जीव के प्रदेश विस्तृत होते हैं और शरीर फिर सूख जाने पर प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं। पुनः जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे अधिक दूध में व्याप्त होता है उसी प्रकार जीव दूसरे बड़े शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के विस्तार द्वारा उस बड़े शरीर में व्याप्त होता है और जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे कम दूध में डालने पर स्वप्रभासमूह

के संकोच द्वारा उस थोड़े दूध में व्याप्त होता है उसी प्रकार जीव अन्य छोटे शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के संकोच द्वारा उस छोटे शरीर में व्याप्त होता है।

यहां यह प्रश्न होता है कि अमूर्त जीव का संकोच-विस्तार कैसे संभव है? उसका समाधान किया जाता है।

अमूर्त के संकोच-विस्तार की सिद्धि तो अपने अनुभव से साध्य है, क्योंकि सबको स्वानुभव से स्पष्ट है कि जीव स्थूल तथा कृश शरीर में तथा बालक और कुमार के शरीर में व्याप्त होता है। जीव के जो प्रदेश मोटे शरीर में फैले हुए थे, वे ही शरीर के पतले हो जाने पर सिकुड़ गए तथा बालक के शरीर में जो जीव के प्रदेश सिकुड़े हुए थे वे ही फैल जाते हैं। इस प्रकार से जीव के प्रदेशों का संकोच तथा विस्तार सिद्ध होता है। पुद्गल तो द्रव्य की अपेक्षा से एक प्रदेश मान होने से यथोक्त पूर्व कथित प्रकार अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेश आदि द्वयणुक आदि स्कंधों के हेतुभूत तथाविध उस प्रकार के स्निग्ध और रुक्ष गुरुरूप परिणमित होने की शक्ति रूप स्वभाव के कारण उस पुद्गल के प्रदेशों का बहुप्रदेशत्व का उद्भव है। इसलिए पर्यायतः अनेक प्रदेशित्व की भी संभावना होने से पुद्गल द्विप्रदेशत्व से लेकर संख्यात असंख्यात और अनंत प्रदेशत्व भी न्याय युक्त है।

लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगोत्ति।
अप्पदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो।।

गा. 584 गोम्मटसार जीवकाण्ड पृ. 264

एक जीव अपने प्रदेशों के संहार-विसर्प की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होकर रहता है।

आत्मा में प्रदेश संहार-विसर्पत्व गुण है। इसके निमित्त से उसके प्रदेश संकुचित तथा विस्तृत होते हैं। इसलिए एक क्षेत्र शरीर प्रमाण की अपेक्षा अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर हजार योजन तक का होता है। इसके आगे समुद्घात की अपेक्षा लोक के असंख्यातवें भाग तथा संपूर्ण लोक प्रमाण भी होता है।

समुद्घात के समय आत्मप्रदेश कार्माण शरीर एवं तैजस शरीर के साथ

मूल औदारिक शरीर को छोड़कर बाहर निकलते हैं, जिसके कारण गाथा में कहा गया है कि असमुद्घात के समय में जीव स्वशरीर के बराबर रहता है। समुद्घात का स्वरूप एवं उसके भेद का वर्णन नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने गोम्मट्टसार जीवकाण्ड में निम्न प्रकार से किया है-

मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घाद णामं तु।।

गा. 667 गो. सा. जीवकाण्ड पृ. 726

मूल शरीर को न छोड़ कर, उत्तरदेह के व जीवपिण्ड के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना सो समुद्घात है।

वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु।। 668

वह समुद्घात, वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली इस तरह सात प्रकार का होता है।

यहां पर ''अणु'' शब्द से उत्सेधघनांगुल के असंख्यातवे भाग परिमाण जो लब्धि अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदशरीर है, उसका ग्रहण करना चाहिए और पुद्गल परमाणु का ग्रहण न करना चाहिए और ''गुरु'' शरीर यहाँ पर ''गुरु'' शब्द से एक हजार योजन परिमाण जो महामत्स्य का शरीर है, उसको ग्रहण करना चाहिए और मध्यम अवगाहना से मध्यम शरीरों का ग्रहण है।

संसारी जीव के भेद स्थावर एवं त्रस

पुढ़विजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिगचदु पंचक्खा तसजीवा होंति संखादी।। (11)
पृथिवीजलतेजो वायुवनस्पतयः विविधस्थावरैकेन्द्रियाः।
द्विकत्रिकचतुःपञ्चाक्षाः त्रसजीवाः भवन्ति शंखादयः।।

The earth, water, fire, air and plants are various kinds of Sthavara possessed of one sence. The Trasa Jivas, conches, etc are possessed of Two, three, four and five senses.

पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति इन भेदों से नाना प्रकार के

स्थावर जीव हैं और ये सब एक स्पर्शन इंद्रिय के ही धारक हैं तथा शंख आदिक दो, तीन, चार और पाँच इन्द्रियों के धारक त्रस जीव होते हैं।

गाथा नं. 11 व 12 में संसारी जीवों का वर्णन है, इस गाथा में त्रस एवं स्थावर जीवों का संक्षिप्त वर्णन है। स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर जीव बनते हैं एवं त्रस नामकर्म के उदय से त्रस जीव बनते हैं। स्थावर जीव के सामान्यतः 5 भेद हैं। यथा- 1. पृथ्वीकायिक, 2. जलकायिक, 3. तेज, 4. वायु, 5. वनस्पति ये पाँच प्रकार के स्थावर हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच स्थावर हैं।

आधुनिक विज्ञान में केवल वनस्पति को जीव सिद्ध किया परंतु पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक को जीव सिद्ध करने में असमर्थ हैं, क्योंकि इन जीवों का आकार अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण एवं उसके सूक्ष्म शरीर में होने वाली सूक्ष्म क्रियाओं के कारण वैज्ञानिक लोग इन्हें जीव सिद्ध करने में सक्षम नहीं हो पाये हैं। परंतु जैन धर्म केवली भगवान् द्वारा प्रतिपादित होने के कारण इसमें सूक्ष्म परमाणु से लेकर आकाश तक संपूर्ण द्रव्यों का एकेन्द्रिय से लेकर सिद्ध तक के जीवों का वर्णन है। इन पांच स्थावर के विशेष शोध-बोध के लिए एवं आधुनिक शोध-बोध करने वाले विद्यार्थियों के मार्ग दर्शन के लिए इसका विशेष वर्णन यहाँ कर रहा हूं-

पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्ददेव ने कहा है-

पुढ़वी य उदगमगणी वाउ वणप्फदि जीवसंसिदा काया।
वेंति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं।। 110 (पृ. 282)

पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजःकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ऐसे यह पुद्गल परिणाम बंधवशात् बंध के कारण जीव सहित हैं अवान्तर जातिरूप भेद करने पर वे अनेक होने पर भी सभी पुद्गल परिणाम, स्पर्शनेन्द्रियावरण के क्षयोपशम वाले जीवों को बहिरंग स्पर्शनेन्द्रिय की रचनाभूत हुए कर्मफल चेतना प्रधानपने के कारण अत्यंत मोह सहित ही स्पर्शोपलब्धि ज्ञान संप्राप्त कराते हैं।

तित्थावरतणुजोगा अणिलावणलकाइया य तेसु तसा।
मणपरिणाम विरहिदा जीवा एइंदिया णेया ।। 111

उनमें तीन जीव स्थावर शरीर के संयोग वाले हैं, वायुकायिक और अग्निकायिक जीव त्रस हैं, वे सब मन परिणाम रहित एकेन्द्रिय जीव जानना।

जीव ने जो स्थाावर नामकर्म बांधा है उसके उदय के आधीन होने से यद्यपि अग्नि और वायुकायिक जीवों को व्यवहार नय से चलनापन है तथापि निश्चयनय से स्थावर ही है।

एदे जीवणिकाया पंचविधापुढविकाइयादीया।
मणपरिणाम विरहिदाजीवा एगेंदिया भणिया।। (112)

पृथ्वीकायिक आदि जीव, स्पर्शनेन्द्रिय के आवरण क्षयोपशम के कारण तथा शेष इन्द्रियों के आवरण का उदय तथा मन के आवरण का उदय होने से मनरहित एकेन्द्रिय हैं। एकेन्द्रियों को चैतन्य का अस्तित्व होने संबंधी दृष्टांत का कथन हैं-

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया।। (113)

अंडे में वृद्धि पाने वाले प्राणी, गर्भ में रहे हुए प्राणी और मूर्च्छा प्राप्त मनुष्य जैसे बुद्धिपूर्वक व्यापार रहित होते हुए भी जीव हैं, वैसे ही एकेन्द्रिय भी जीव जानना।

जैसे अंडों के भीतर के तिर्यंच व गर्भस्थ पशु या मनुष्य या मूर्च्छागत मानव इच्छापूर्वक व्यवहार करते नही दिखते हैं वैसे ही इन एकेन्द्रियों को जानना चाहिए अर्थात् अंडों में जन्मने वाले प्राणियों के शरीर की पुष्टि या वृद्धि को देखकर बाहरी व्यापार करना न दिखने पर भी भीतर चैतन्य है ऐसा जाना जाता है, यही बात गर्भ में आये हुए पशु या मानवों की भी है। गर्भ बढ़ता जाता है इसी से चेतना की सत्ता मालूम होती है। मूर्च्छागत मानव तुरंत मूर्च्छा छोड़ सचेत हो जाता है। इसी तरह एकेन्द्रियों के भीतर भी जानना चाहिए। जब गर्भस्थ शरीर या अंडे या मूर्च्छा प्राप्त प्राणी म्लानित हो जाते हैं अर्थात् बढ़ते नहीं या उनके शरीर की चेष्टा बिगड़ जाती है तब यह अनुमान

होता है कि उनमें जीव नहीं रहा। उसी तरह एकेन्द्रिय जीव जब म्लानित या मर्दित हो जाते हैं तब वे जीव रहित अचित्त हो जाते हैं।

पृथ्वीकायिक आदि जीवों का आकार

मसुराम्बुपृषत्सूचितकलापध्वजसन्निभाः
धराप्तेजोमरुत्काया नानाकारास्तरुस्त्रसाः।।

गा. 57 त. सा. पृ. 51

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों का आकार क्रम से मसूर, पानी की बूंद, खड़ी सुईयों का समूह तथा ध्वजा के समान है। वनस्पतिकायिक और त्रस जीव अनेक आकार के होते हैं।

पृथिवीकायिक जीवों के छत्तीस भेद–

मृतिका बालुका चैव शर्करा चोपलः शिला।
लवणोऽयस्तथा ताम्रं त्रपुःसीसकमेव च ।। (58)
रौप्यं सुवर्ण वज्रं च हरितालं च हिंगुलम्।
मनःशिला तथा तुत्थमज्जनं सप्रवालकम्।। (59)
क्रिरोलकाभ्रके चैव मणिभेदाश्च बादराः।
गोमेद रुचकाङ्काश्च स्फटिको लोहितप्रभः। (60)
वैडूर्य चन्द्रकान्तद्य जलकान्तो रविप्रभः।
गैरिकाश्चचन्दनश्चैव वर्चूरो रुचकस्तथा।। (61)
मोठो मसारगल्लद्य सर्व एते प्रदर्शिताः।
षट्त्रिशत्पृथ्वीभेदाभगवभ्दिजिनेश्वरैः।। (62),

1. मिट्टी, 2. रेत, 3. चूनकंकरी, 4. पत्थर, 5. शिलाएँ, 6. नमक, 7. लोहा, 8. तांबा, 9. रांगा, 10. शीशा, 11. चांदी, 12. सोना, 13. हीरा, 14. हरताल, 15. इंगूर, 16. मैनसिल, 17. तूतिया, 18. सूरमा, 19. मूंगा, 20. क्रिरोलक, 21. भोड़ल बड़ी–बड़ी मणियों के खंड, 22. गोमेद, 23. रुचकांक, 24. स्फटिक, 25. पद्मराग, 26. वैडूर्य, 27. चन्द्रकांत, 28. जलकांत, 29. सूर्यकांत, 30. गैरिक, 31. चन्दन, 32. वर्चूर, 33. रुचक, 34. मोठ, 35. मसार और 36 गल्ल नामक मणि ये सब पृथिविकायिक के छत्तीस भेद जिनेन्द्र भगवान् ने कहे हैं।

जलकायिक जीवों के भेद–

अवश्यायो हिमबिन्दुस्तथा शुद्धघनोदके।
शीकाद्याश्च विज्ञेया जीवाः सलिलकायिकाः।। (63)

ओस, बर्फ के कण–शुद्धोदक–चन्द्रकांतमणि से निकला पानी, मेघ से तत्काल वर्षा हुआ पानी तथा कुहरा आदि जलकायिक जीव जानने के योग्य हैं।

अग्निकायिक जीवों के भेद–

ज्वालांगारास्तथार्चिश्च मुर्मूरःशुद्ध एव च।
अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिका। (64)

ज्वालाएँ, अंगार, अर्चि–अग्नि की किरण, मुर्मर–अग्निकण भस्म के भीतर छिपे हुए अग्नि के छोटे–छोटे कण और शुद्ध अग्नि–सूर्यकांतमणि से उत्पन्न अग्नि ये सब अग्निकायिक जीव जानने के योग्य हैं।

वायुकायिक जीवों के भेद–

महान् घनतनुश्चैव गुञ्जामण्डलिरुत्कलिः।
वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवाः पवनकायिकाः।। (65)

वृक्ष वगैरह को उखाड़ देने वाली महान् वायु अर्थात् आंधी, तिरछी बहने वाली वायु और वात–सामान्य वायु से ये सब पवनकायिका जीव जानने के योग्य हैं।

वनस्पतिकायिक जीवों के भेद–

मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धबीजरुहास्तथा।
संमूर्च्छिनश्च हरिताः प्रत्येकानन्तकायिका।। (66)

मूलबीज–मूल से उत्पन्न होने वाले अदरक, हल्दी आदि अग्रबीज, कलम से उत्पन्न होने वाले गुलाब आदि पर्वबीज पर्व से उत्पन्न होने वाले गन्ना आदि, कन्दबीज–कन्द से उत्पन्न सूरण आदि स्कन्धबीज–स्कंध से उत्पन्न होने वाले ढाक आदि बीजरुह–बीज से उत्पन्न होने वाले गेहूँ, चना आदि तथा समूर्च्छिन अपने आप उत्पन्न होने वाली घास आदि वनस्पतिकायिक प्रत्येक तथा साधारण दोनों प्रकार के होते हैं।

एकेन्द्रियादि तिर्यंचों की उत्कृष्ट अवगाहना–

योजनानां सहस्त्रं तु सातिरेकं प्रकर्षतः।
ऐकेन्द्रियस्य देहः स्याद्विज्ञेयः स च पद्मिनी।। 143
त्रिकोशः कथितः कुम्भी शंखो द्वादशयोजनः।
सहस्त्रयोजनो मत्स्यो मधुपश्चेक योजनः।। 144

एकेन्द्रिय जीव का शरीर उत्कृष्टता से कुछ अधिक एक हजार योजन विस्तार वाला है। एकेन्द्रिय जीव की यह उत्कृष्ट अवगाहना कमल की जानना चाहिए। दो इन्द्रिय जीवों में शंख बाहर योजन विस्तार वाला है, तीन इन्द्रिय जीवों में कुम्भी–चिंउटी तीन कोश विस्तार वाली है, चार इन्द्रिय जीवों में भौरा एक योजन विस्तार वाला और पाँच इन्द्रिय महामच्छ एक हजार योजन विस्तार वाला है।

ये उत्कृष्ट अवगाहना के धारक जीव स्वयंभूरमण द्वीप के बीच में पड़े हुए स्वयंभू पर्वत के आगे के भाग में होते हैं। मच्छ स्वयंभूरमण समुद्र में रहता है।

एकेन्द्रियादिक जीवों की जघन्य अवगाहना–

असंख्याततमो भागो यावानस्त्यंगुलस्य तु।
एकाक्षादिषु सर्वेषु देहस्तावान् जघन्यतः।। 145

एकेन्द्रियादिक सभी जीवों का शरीर जघन्य रूप से घनांगुल के असंख्यातवे भाग प्रमाण है।

एकेन्द्रिय जीवों में सर्वजघन्य शरीर सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने से तीसरे समय में होता है तथा उसका प्रमाण घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। द्विन्द्रियों मे सर्वजघन्य शरीर अनुंधरी का, त्रीन्द्रियों में कुन्थु का, चतुरिन्द्रयों में कणमक्षिका का और पंचेन्द्रियों में तण्डुलमच्छ का होता है। यद्यपि इन सबका सामान्य रूप से प्रमाण घनागुंल का असंख्यातवे भाग के बराबर है तथापि वह आगे–आगे संख्यात गुणा–संख्यात गुणा है।

स्थाावरादिजीवों की कुल कोटी–

बावीस सत्त तिण्णिय, सत्त य कुलकोडिसयसहस्साहि।
णेया पुढ़विदगागणि, वाउक्कायाण परिसंखा।। 113

पृथिवीकायिक जीवों के कुल भेद बाईस लाख कोटी हैं। जलकायिक जीवों के कुल सात लाख कोटी हैं। अग्निकायिक जीवों के कुल तीन लाख कोटी हैं और वायुकायिक जीवों के कुल सात लाख कोटी हैं।

गाथा में जो ''विविहथावरेइंदी'' शब्द प्रयोग किया गया है वह महत्वपूर्ण है। सामान्यतः एकेन्द्रिय स्थावर जीव के पाँच भेद होते हुए भी उनकी विभिन्न जाति, प्रजातियाँ हो जाती हैं। उदाहरण के लिए आम का वृक्ष वनस्पतिकायिक है। आम में भी अनेक प्रजातियाँ हैं। इसी प्रकार अन्य अन्य वनस्पति एवं पृथ्वीकायिक आदि जीव में जान लेना चाहिए। त्रसनामकर्म के उदय से त्रसकायिक जीव होते हैं। उसके सामान्यतः चार भेद हैं 1. द्वीन्द्रिय, 2. त्रीन्द्रिय, 3. चतुरिन्द्रिय, 4. पंचेन्द्रिय।

आचार्य उमास्वामी ने कहा भी है–

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः । 14

Mobile of many sensed souls with 2 senses etc.

दो इन्द्रिय आदि त्रस हैं।

त्रसनाम कर्म के उदय से संसारी जीव त्रसकायिक होते हैं। इस अपेक्षा से त्रस जीव एक होते हुए भी इन्द्रियादि भेद से उनमें भी भेद पाए जाते हैं।

गोम्मट्टसार जीवकांड में जीवों के विभिन्न भेद–प्रभेदों का वर्णन किस प्रकार से किया गया है।

सामण्णजीव तसथावरेसु इगिविगलसयलचरिमदुगे।
इंदियकाये चरिमस्स य दुतिचदुपणगभेदजुदे।। 75

सामान्य से जीव का एक ही भेद है क्योंकि ''जीव'' कहने से 'जीव मात्र' का ग्रहण हो जाता है। इसलिए सामान्य से जीव समास का एक भेद, त्रस और स्थावर अपेक्षा से ये दो भेद, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) सकलेन्द्रिय पंचेन्द्रिय की अपेक्षा तीन भेद। यदि पंचेन्द्रिय के दो भेद कर दिए जाए तो जीव समास के एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी इस तरह चार भेद होते हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा पाँच भेद हैं अर्थात् एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति पाँच स्थावर और एक त्रस इस प्रकार काय की अपेक्षा छह भेद हैं।

यदि पाँच स्थावरों में त्रस के विकल और सकल इस तरह दो भेद करके मिलाने से सात भेद होते हैं और विकल के संज्ञी और असंज्ञी इस प्रकार तीन भेद करके मिलाने से आठ भेद होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इस तरह चार भेद करके मिलाने से नव भेद होते हैं और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी और संज्ञी इस तरह पाँच भेद मिलाने से दस भेद होते हैं।

द्वीन्द्रिय जीवों के नाम–

शम्बूकः शंखशुक्ति वा गण्डूपदकपर्दकाः।
कुक्षिकृम्यादयश्चैते द्वीन्द्रियाः प्राणिनो मताः।।

गा. 53 त.सा. अ. 2

शम्बूक, शंख, सुक्ति–सीप, गिंडोलें तथा पेट के कीड़े आदि ये दो इन्द्रिय जीव माने गए हैं।

त्रीन्द्रिय जीवों के नाम–

कुन्थुः पिपीलिका कुम्भी वृश्चिकश्चेन्द्रगोपकः।
घुणमत्कुणयूकाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति जन्तवः।। 54

कुन्थु, चिंउटी, कुम्भी, बिच्छू,बीरवहुटी, घुनका कीड़ा, खटमल, चीलर–जुवाँ आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं।

चतुरिन्द्रिय जीवों के नाम –

मधुपःकीटको दंशमशको मक्षिकस्तथा।
वरटी शलभाद्याश्च भवन्ति चतुरिन्द्रियाः ।। 55

भौंरा, उड़ने वाले कीड़े, डाँस, मच्छर, मक्खी, बर्र तथा टिड्डी आदि चार इन्द्रिय जीव हैं।

पंचेन्द्रिय जीवों के नाम–

पंचेन्द्रियाश्य मर्त्याः स्युर्नारकास्त्रिदिवौकसः।
तिर्यञ्चोऽप्यरगा भोगिपरिसर्पचतुष्पदाः।। 56

मनुष्य, नारकी, देव, तिर्यंच, सांप, फणवाले नाग, सरकने वाला अजगर आदि तथा चौपाये पाँच इन्द्रिय जीव हैं।

संज्ञी, असंज्ञी, बादर, सूक्ष्मादि भेद

समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ।। 12
समनस्काः अमनस्काः ज्ञेयाः पंचेन्द्रियाः निर्मनस्काः परे सर्वे।
बादर सूक्ष्मेकेन्द्रियाः सर्वे पर्याप्ताः इतरे च ।।

[Jivas] possessing five senses are known [to be divided into] those having mind and those without mind. All that rest are without mind. [Jivas] having one sense [are divided into two classes] Badara and suksma. All [of these hav again to varieties each] paryapta and its opposite.

पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो प्रकार के जानने चाहिए और दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय ये सब मनरहित असंज्ञी हैं, एकेन्द्रिय बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के हैं और ये पूर्वोक्त सातों पर्याप्त तथा अपर्याप्त हैं, ऐसे 14 जीव समास हैं।

''नानाविकल्प जालरूपं मनो'' अर्थात् नाना प्रकार के विकल्प रूप को मन कहते हैं। ऐसे मन वाले जीवों को समनस्क कहते हैं। मन से रहित जीव को अमनस्क कहते हैं। भले एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक अमनस्क ही हैं तथापि यहाँ पर समनस्क और अमनस्क भेद पंचेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा से कहा गया है। इसका कारण यह है कि इन्द्रिय एवं मन की उपलब्धि क्रम से होती है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय जीव में क्रमशः एक एक इन्द्रिय वृद्धि रूप में स्पर्शन, रसना, घ्राण एवं चक्षु इन्द्रिय होती है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय में स्पर्शन, रसना, घ्राण एवं चक्षु एवं कर्ण इन्द्रिय होगी परंतु संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव में पांचों इन्द्रिय के साथ-साथ मन भी होता है। इसलिए पंचेन्द्रिय में ही संज्ञी एवं असंज्ञी का भेद है।

संज्ञी की परिभाषा आचार्य उमास्वामी ने भी तत्वार्थसूत्र में निम्न प्रकार से दी है।

यथा –

संज्ञिनः समनस्काः। (24)

The retional (beings are also called)

संज्ञी– i.e. one Who has got sanjna-mind here.

मन वाले जीव संज्ञी होते हैं।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय संज्ञी जीव में से पंचेन्द्रिय सैनी जीव अधिक विकसित जीव हैं क्योंकि संज्ञी जीव मन सहित होता है। मन दो प्रकार के होते हैं। 1. द्रव्यमन, 2. भावमन।

पुद्गलविपाकी आंगोपांग नाम कर्म के उदय से द्रव्यमन होता तथा वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भावमन कहते हैं। यह मन जिन जीवों में पाया जाता है वे समनस्क हैं और उन्हें ही संज्ञी कहते हैं। परिशेष न्याय से यह सिद्ध हुआ कि इनके अतिरिक्त और जितने जीव होते हैं वे असंज्ञी हैं। नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने गोम्मट्टसार में संज्ञा मार्गणा में इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया है–

णोइंदियआवरण खओवसमं तज्जबोहणं सण्णा।
सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिअवबोहो।।

नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम को या तज्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसको हो उसको 'संज्ञी' कहते हैं और जिनके यह संज्ञा न हो किंतु यथासम्भव इन्द्रियजन्य ज्ञान हो उनको असंज्ञी कहते हैं।

संज्ञी असंज्ञी की पहचान के लिए चिन्हः–

सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण।
जो जीवो सो सण्णी तव्विरीओ असण्णी दु।। 661

हित का ग्रहण और अहित का त्याग जिसके द्वारा किया जाए उसको 'शिक्षा' कहते हैं। इच्छापूर्वक हाथ, पैर के चलाने को ''क्रिया' कहते हैं। वचन अथवा चाबुक आदि के द्वारा बताए गए कर्त्तव्य को ''उपदेश'' कहते हैं और श्लोक आदि के पाठ को आलाप कहते हैं।

जो जीव इन शिक्षादि को मन के अवलंबन से ग्रहण–धारण करता है,

उसको संज्ञी कहते हैं और जिन जीवों में यह लक्षण घटित न हो उसको असंज्ञी कहते हैं।

मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च।
सिक्खदि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरिदो।।

जो जीव प्रवृत्ति करने से पहले अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार करें तथा तत्त्व और अतत्त्व का स्वरूप समझ सकें और जो नाम रखा गया हो उस नाम के द्वारा बुलाने पर आ सके, उन्मुख हो या उत्तर दे सके उसको समनस्क या संज्ञी जीव कहते हैं और इससे जो विपरीत हैं, उसको अमनस्क या असंज्ञी कहते हैं।

संज्ञीमार्गणागत जीवों की संख्याः-

देवेहिं सदिरेगो रासी सण्णीण होदि परिमाणं।
तेणूणो संसारी सव्वेसिमसण्णिजीवाणं।।

गोम्म्ट्टसार पृ. 245

देवों के प्रमाण से कुछ अधिक संज्ञी जीवों का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही समस्त असंज्ञी जीवों का प्रमाण है।

जैन सिद्धांत के अनुसार हृदय कमल में आठ पाँखुडी के आकार का द्रव्यमन होता है और उस द्रव्यमन से शिक्षा, उपदेश, वचनादि का ग्राहक भाव मन होता है। वैसे तो एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक में भी कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान तथा आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि संज्ञाएँ होने के कारण उनमें भी कुछ क्रिया एवं प्रतिक्रिया होती है तथा वे भी सुख-दुःख अनुभव करते हैं तथापि जिस प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव उपदेश को ग्रहण करता है शिक्षा को प्राप्त करता है, मनन करता है, चिंतन करता है, सम्यक्त्व को ग्रहण कर सकता है, संयम को धारण कर सकता है, मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, उसी तरह अन्य जीव नहीं कर सकते हैं।

इस गाथा में चौदह जीवसमास का भी वर्णन किया गया है। यथा-

1. बादर एकेन्द्रिय, 2. सूक्ष्म एकेन्द्रिय, 3. द्वीन्द्रिय, 4. त्रीन्द्रिय 5. चतुरिन्द्रिय, 6. असंज्ञी पंचेन्द्रिय, 7. संज्ञी पंचेन्द्रिय। इन 7 के पर्याप्त एवं

अपर्याप्त भेद होते हैं। इस कारण 7x2=14 जीवसमास हो जाते हैं।

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा मन ये षट् पर्याप्ति हैं, इनमें से जो एकेन्द्रिय जीव है उनको तो केवल आहार, शरीर, एक स्पर्श इन्द्रिय तथा श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। संज्ञी पञ्चेन्द्रियों के चार ये पूर्वोक्त और भाषा तथा मन ये छहों पर्याप्तियाँ होती हैं और शेष जीवों के मन रहित पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं। पर्याप्त अवस्था में संज्ञी पंचेन्द्रियों के 10 प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रियों के मन के बिना 9 प्राण, चौइन्द्रियों के मन और कर्ण के बिना 8 प्राण, तेइन्द्रियों के मन, कर्ण और चक्षु के बिना 7 प्राण, दोइन्द्रियों के मन, कर्ण, चक्षु और घ्राण के बिना 6 प्राण और एकेन्द्रियों के मन, कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना तथा वचनबल के बिना 4 प्राण होते हैं। अपर्याप्त अवस्था के धारक जीवों में संज्ञी तथा असंज्ञी इन दोनों पंचेन्द्रियों के श्वासोच्छ्वास वचन बल और मनोबल के बिना 7 प्राण होते हैं और चौइन्द्रिय आदि एकेन्द्रिय पर्यंत शेष जीवों के क्रमानुसार एक एक प्राण घटता हुआ है।

जीव का अशुद्ध एवं शुद्ध स्वरूप

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया।। 13
मार्गणागुणस्थानैः चतुर्दशभिः भवन्ति तथा अशुद्धनयात्।
विज्ञेयाः संसारिणः सर्वे शुद्धाःखलु शुद्धनयात्।।

Again, according to impure (Vyavahara) Naya, Samsari Jivas are of fourteen kinds according to Margana and Gunasthana. But according to pure Naya, all Jivas should be understood to pure.

संसारी जीव अशुद्ध नय से चौदह मार्गणास्थानों से तथा चौदह गुणस्थानों से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से तो सब संसारी जीव शुद्ध ही हैं।

शुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिक नय से सिद्ध जीव तो शुद्ध हैं ही परंतु संसारी जीव

भी शुद्ध हैं क्योंकि शुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिक नय केवल शुद्ध द्रव्य का ही ग्रहण करता है पर मिश्र अवस्थाओं को ग्रहण नहीं करता है क्योंकि इस नय का प्रतिपादित विषय शुद्ध द्रव्य ही होता है। अशुद्ध नय अर्थात् व्यवहार नय से संसारी जीव कर्म से संयुक्त है। इस अवस्था में जीव के अनेक भेद प्रभेद हो जाते है क्योंकि संसारी जीव अनंतानंत हैं और कर्म भी असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इस अपेक्षा से संसारी जीव के भी संख्यात, असंख्यात और अनंत भेद हो जाते हैं तथापि समझने के लिए एवं समझाने के लिए एक सुव्यवस्थित प्रणाली को अपनाकर उसमें समस्त भेद प्रभेदों को गर्भित किया जाता है। इस गाथा में आचार्य श्री ने संसारी जीवों के वर्गीकरण को मुख्य दो भेदों में किया है। (1) मार्गणा स्थान, (2) गुणस्थान। मार्गणा स्थान के पुनः 14 अंतर्भेद हो जाते हैं और उस अंतर्भेदों में भी अनेक प्रभेद होते हैं इसी प्रकार गुणस्थान के 14 भेद होते हैं उन 14 भेद के भी अनेक प्रभेद हो जाते हैं।

1. मार्गणा

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे सुण्णाणे मग्गणा होंति।।

(141) गोम्मट सार जीवकांड

जीव जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में खोजे जाते हैं– अनुमार्गण किये जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं। जीवों का अन्वेषण करने वाली ऐसी मार्गणाएँ श्रुतज्ञान में चौदह कही गयी हैं।

चौदह मार्गणाओं के नाम

गइ इंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे च।
संजमदंसणलेस्सा भवियासम्मत्तसण्णिआहारे।। (142)

1. गति मार्गणा 2. इन्द्रिय मार्गणा 3. काय मार्गणा 4. योग मार्गणा 5. वेद मार्गणा 6. कषाय मार्गणा 7. ज्ञान मार्गणा 8. संयम मार्गणा 9. दर्शन मार्गणा 10. लेश्या मार्गणा 11. भव्य मार्गणा 12. सम्यक्त्व मार्गणा 13. संज्ञी मार्गणा 14. आहार मार्गणा।

1. गति मार्गणा –

गइउदयपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई।

णारयतिरिक्खमाणुसदेवगइ त्ति य हवे चदुधा।। 146

गति कर्मोदय जनित पर्याय ''गति'' है अथवा चारों गतियों में गमन करने के कारण को गति कहते हैं। वे गतियाँ चार हैं– 1. नरक गति, 2. तिर्यंच गति, 3. मनुष्य गति, 4. देव गति।

2. इन्द्रिय मार्गणा–

अहमिंदा जह देव, अविसेसं अहमहं ति मण्णंता।
ईसंति एक्कमेक्कं, इंदा इव इंदिये जाण।। 164

जिस प्रकार अहमिन्द्र देव बिना किसी विशेषता के ''मैं इन्द्र हूँ, मैं इन्द्र हूँ'' इस प्रकार मानते हुए प्रत्येक स्वयं को स्वामी मानता है उसी प्रकार इन्द्रियों को जानना चाहिए।

फासरसगंधरूवे, सद्दे णाणे च चिण्हयं जेसिं।
इगिबितिचदुपंचिंदिय जीवा णियभेयाभिण्णाओ।। 166
एइंदियस्स फुसणं, एक्कं वि य होदि सेसजीवाणं।
होंति कमउड्ढियाइं जिब्भाघाणच्छिसोत्ताइं।। 167

स्पर्श –रस गंध– रूप और शब्द का ज्ञान जिनका चिन्ह है, ऐसे एकेन्द्रिय–द्वीन्द्रिय–त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव हैं और वे अपने–अपने भेदों सहित हैं। एकेन्द्रिय जीव के एक स्पर्शन–इन्द्रिय ही होती है, शेष जीवों के क्रम से जिव्हा, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र बढ़ते जाते हैं।

3. काय मार्गणा–

जाईअविणाभावी, तसथावरउदयजो हवे काओ।
सो जिणमदम्हि भणिओ, पुढवीकायादिछब्भेयो।। 181

जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को जिनमत में काय कहते हैं। इसके छह भेद हैं:–

1. पृथिवी, 2. जल, 3. अग्नि, 4. वायु, 5. वनस्पति, 6. त्रस।

4. योग मार्गणा–

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।

जीवस्स जा हु सत्ती, कम्मागमकारणं जोगो। 216

पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन वचन काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है, उसको योग कहते हैं।

5. वेद मार्गणा–

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे, पाएण समा कहिं विसमा। 271

पुरुष स्त्री और नपुंसक वेदकर्म के उदय से भाव पुरुष, भाव स्त्री, भाव नपुंसक होता है और नामकर्म के उदय से द्रव्य पुरुष, द्रव्य स्त्री, द्रव्य नपुंसक होता है। सो यह भाववेद और द्रव्यवेद प्रायः करके समान होता है पंरतु कहीं–कहीं विषम भी होता है।

6. कषाय मार्गणा–

सुहदुक्खसुबहुसस्सं, कम्मक्खेतं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं, तेण कसाओ त्ति णं बेंति।। 282

जीव के सुख दुःख आदि रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र, खेत का यह कर्षण करता है, इसलिए इसको कषाय कहते हैं।

सम्मत्तदेससयलचरित्त जहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति वा कसाया, चउसोल असंखलोगमिदा।। 283

सम्यक्त्व देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यात, चारित्ररूपी परिणामों को जो कषे–घाते, न होने दे उसको कषाय कहते हैं। इसके अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन इस प्रकार चार भेद होते हैं। अनन्तानुबंधी आदि चारों के क्रोध, मान, माया, लोभ इस तरह चार–चार भेद होने से कषाय के उत्तर भेद सोलह होते हैं। किंतु कषाय के उदय स्थानों की अपेक्षा से असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं। जो सम्यक्त्व को रोके उसको अनन्तानुबंधी, जो देशचारित्र को रोके उसको अप्रत्याख्यानावरण, जो सकल चारित्र रोके उसको प्रत्याख्यानावरण, जो यथाख्यातचारित्र को रोके उसको संज्वलन कषाय कहते हैं।

7. ज्ञान मार्गणा

जाणइ तिकालविसए, दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे।
पच्चक्खं च परोक्खं, अणेण णाणं ति णं बेंति।। 299

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल संबंधी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने उसको ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं, एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष।

8. संयम मार्गणा

वदसमिदिकसायाणं, दंडाणं तहिंदियाण पंचण्हं।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ।। 465

अहिंसा, अचौर्य, सत्यशील, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का धारण करना ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, उत्सर्ग इन पाँच समितियों का पालना, क्रोधादि चार प्रकार की कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, कायरूप दण्ड का त्याग तथा पाँच इन्द्रियों का जय, इसको संयम कहते हैं। अतएव संयम के पाँच भेद हैं।

9. दर्शन मार्गणा–

जं सामण्णं गहणं, भावणं णेव कट्टूमायारं।
अविसेसदूण अट्ठे, दंसणमिदि भण्णदे समये।। 482

सामान्य–विशेषात्मक पदार्थ के विशेष अंश को ग्रहण न करके केवल सामान्य अंश का जो निर्विकल्प रूप से ग्रहण होता है, उसको परमागम में दर्शन कहते हैं।

भावाणं सामण्ण–विसेसयाणं सरूवमेत्तं जं।
वण्णणहीणग्गहणं जीवेण य दंसणं होदि। 483

सामान्य– विशेषात्मक पदार्थों की स्वरूपमात्र स्व–परसत्ता का निर्विकल्प रूप से जीव के द्वारा जो अवभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं।

पदार्थों में सामान्य विशेष दोनों ही धर्म रहते हैं, किंतु इनके केवल स्वरूप मात्र की अपेक्षा से जो स्व–परसत्ता का अभेदरूप निर्विकल्प

अवभासन होता है, उसको दर्शन कहते हैं अतएव वह निराकार है और इसलिए इसका शब्दों के द्वारा प्रतिपादन नही किया जा सकता। इसके चार भेद हैं– चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन, केवल दर्शन।

10. लेश्या मार्गणा–

लिंपई अप्पीकीरइ, एदीए णियअपुण्णपुण्णं च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा।। 489

लेश्या के गुण को– स्वरूप को जानने वाले गणधरादि देवों ने लेश्या का स्वरूप ऐसा कहा है कि जिसके द्वारा जीव अपने को पुण्य और पाप से लिप्त करे, पुण्य और पाप के अधीन करे उसको लेश्या कहते हैं।

किण्हा णीला काऊ, तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य।
लेस्साणं णिद्देसा, छच्चेव हवंति णियमेण।। 493

लेश्याओं के नियम से यह छह ही निर्देश– संज्ञाएँ हैं कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, (पीतलेश्या) पद्मलेश्या, शुक्ल लेश्या।

11. भव्य मार्गणा–

भविया सिद्धी जेसिं, जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा।
तव्विवरीयाऽभव्वा, संसारादो ण सिज्झंति।। 557

जिन जीवों की अनंत चतुष्टयरूप सिद्धि होने वाली हो अथवा जो उसकी प्राप्ति के योग्य हों उनको भवसिद्ध कहते हैं। जिनमें दोनों में से कोई भी लक्षण घटित न हो उन जीवों को अभव्य सिद्ध कहते हैं।

12. सम्यक्त्व मार्गणा–

छप्पंचणवविहाणं, अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य, सद्दहणं होइ सम्मत्तं।। 561

छह द्रव्य पांच अस्तिकाय नव पदार्थ इनका जिनेन्द्र देव ने जिस प्रकार से वर्णन किया है उस ही प्रकार से इनका जो श्रद्धान करना उसको सम्यक्त्व कहते हैं। यह दो प्रकार से होता है– एक तो केवल आज्ञा से दूसरा अधिगम से।

13. संज्ञी मार्गणा–

णोइंदियआवरणखोवसमं तज्जबोहणं सण्णा।
सा जस्स सो दु सण्णी, इदरो सेसिंदिअवबोहो।। 660

नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम को या तज्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसके हो उसको संज्ञी कहते हैं और जिनके यह संज्ञा न हो, किंतु यथासंभव इन्द्रियजन्य ज्ञान हो उसको असंज्ञी कहते हैं।

14. आहार मार्गणा–

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं, गहणं आहारयं णाम।। 664

शरीरनामक नामकर्म के उदय से देह–औदारिक, वैक्रियक आहारक इनमें से यथा संभव किसी भी शरीर तथा वचन और द्रव्य मनरूप बनने के योग्य नोकर्मवर्गणाओं का जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं।

॥ गुणस्थान का सामान्य लक्षण

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं।। 8

दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था के होने वाले जिन परिणामाओं से युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवों को सर्वज्ञ देव ने उसी गुणस्थानवाला और उन परिणामों को गुणस्थान कहा है।

गुणस्थानों के 14 चौदह भेद

मिच्छो सासण मिस्सो, अवरिदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ।।9
उवसंत खीणमोहो, सजोगकेवलिजिणो अजोगि य।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा।। 10

1. मिथ्यात्व, 2. सासादन, 3. मिश्र, 4. अविरतसम्यग्दृष्टि, 5. देशविरत, 6. प्रमत्तविरत, 7. अप्रमत्तविरत, 8. अपूर्वकरण, 9.

अनिवृत्तिकरण, 10. सूक्ष्मसाम्पराय, 11. उपशान्त मोह, 12. क्षीण मोह, 13. सयोगकेवलिजिन और 14. अयोगकेवलिजिन ये चौदह जीव समास, गुणस्थान हैं और सिद्ध इन जीव समासों- गुणस्थानों से रहित हैं।

1. मिथ्यात्व गुणस्थान का लक्षण

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च-अत्थाणं।
एयंतं विवरीयं, विणयं संसयिदमण्णाणं।। 15

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाले तत्त्वार्थ के अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं- एकान्त, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान।

2. दूसरे सासादन गुणस्थान का स्वरूप

आदिमसम्मत्तद्धा समयोदो छावलित्ति वा सेसे।
अणअण्णदरुदयादो, णासियसम्मो त्ति सासणक्खो सो।। 19

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अथवा यहां पर 'वा' शब्द ग्रहण किया है, इसलिए द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्तमात्र काल में से जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल शेष रहे उतने काल में अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी के भी उदय में आने से सम्यक्त्व की विराधना होने पर सम्यग्दर्शन गुण की जो अव्यक्त अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणति होती है, उसको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं।

3. तृतीय गुणस्थान का लक्षण

सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
ण य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो।। 21

जिसका प्रतिपक्षी आत्मा के गुण को सर्वथा घातने का कार्य दूसरी सर्वघाति प्रकृतियों से विलक्षण जाति का है उस जात्यन्तर सर्वघाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से केवल सम्यक्त्व रूप या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है, उसको तीसरा मिश्रगुणस्थान कहते हैं।

4. अविरत सम्यग्दृष्टि

णो इंदियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो। 29

जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं हैं, किंतु जिनेन्द्र देव द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

5. देशविरत

जो तसवहाउ विरदो, अविरदओ तह य थावरवहाओ।
एक्कसमयम्हि जीवो, विरदाविरदो जिणेक्कमई।। 31

जो जीव जिनेन्द्र देव में अद्वितीय श्रद्धा को रखता हुआ त्रस की हिंसा से विरत और उस ही समय में स्थावर की हिंसा से अविरत होता है, उस जीव को विरताविरत कहते हैं।

6. प्रमत्त गुणस्थान

वत्तावत्तपमादे, जो वसइ पमत्तसंजदो होदि।
सयलगुणसीलकलिओ, महव्वई चित्तलायरणो। 33

जो महाव्रती सम्पूर्ण 28 मूलगुण और शील भेदों से युक्त होता हुआ भी व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों प्रकार के प्रमादों को करता है, वह प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाला है। अतएव वह चित्रल आचरणवाला माना गया है।

7. सप्तम गुणस्थान का स्वरूप

संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि।
अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि।। 45

जब संज्वलन और नोकषाय का मंद उदय होता है तब सकल संयम से युक्त मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है इसलिए इस गुणस्थान को अप्रमत्त संयत कहते हैं। इसके दो भेद हैं- एक स्वस्थानाप्रमत्त दूसरा सातिशयाप्रमत्त।

8. अपूर्वकरण गुणस्थान-

अंतोमुहुत्तकालं, गमिऊण अधापवत्तकरणं तं।

पडिसमयं सुज्झंतो, अपुव्वकरणं समल्लियइ।। 50

जिसका अन्तर्मुहूर्तमात्र काल है, ऐसे अधःप्रवृत्त करण को बिताकर वह सातिशय अप्रमत्त जब प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि को लिए हुए अपूर्वकरण जाति के परिणामों को करता है, तब उसको अपूर्वकरण नामक अष्टमगुणस्थानवर्ती कहते हैं।

9. नवमें गुणस्थान का स्वरूप

एक्कम्हि कालसमये, संठाणादीहि जह णिवट्टंति।
ण णिवट्टंति तहावि य, परिणामेहिं मिहो जेहिं।। 56
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्क परिणामा।
विमलयर झाणहुयवहिसहाहिं णिद्दड्ढ कम्मवणा।। 57

अन्तर्मुहूर्तमात्र अनिवृतिकरण के काल में से आदि या मध्य अन्त के एक समयवर्ती अनेक जीवों में जिस प्रकार शरीर की अवगाहना आदि ब्राह्म कारणों से तथा ज्ञानावरणादिक कर्म के क्षयोपशमादि अन्तरंग कारणों से परस्पर में भेद पाया जाता है, उसी प्रकार जिन परिणामों के निमित्त से परस्पर में भेद नहीं पाया जाता, उनको अनिवृतिकरण कहते हैं अनिवृतिकरण गुणस्थान का जितना काल है, उतने ही उसके परिणाम हैं। इसलिए उसके काल के प्रत्येक समय में अनिवृत्तिकरण का एक-एक ही परिणाम होता है तथा ये परिणाम अत्यंत निर्मल ध्यानरूप अग्नि की शिखाओं की सहायता से कर्मवन को भस्म कर देता है।

10. दशवे गुणस्थान का स्वरूप

धुदकोसुंभयवत्थं, होहि जहा सुहमरायसंजुत्तं
एवं सुहमकसाओ, सुहमसरागोत्ति णादव्वो।। 59

जिस प्रकार धुले हुए कसूमी वस्त्र में लालिमा-सुर्खी-सूक्ष्म रह जाती है, उसी प्रकार जो जीव अत्यंत सूक्ष्म राग-लोभ कषाय से युक्त है उसको सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

11. उपशांत कषाय

कदक फलजुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।

सयलोवसंतमोहो उपसंतकसायओ होदि।। 61

निर्मली फल से युक्त जल की तरह अथवा शरद ऋतु में ऊपर से स्वच्छ हो जाने वाले सरोवर के जल की तरह संपूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामों को उपशांत कषाय नाम का ग्यारहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

बारहवें गुणस्थान का स्वरूप

णिस्सेसखीण मोहो, फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।
खीण कषाओ भण्णदि णिग्गथो वीयरायेहिं। 62

जिस निर्ग्रंथ का चित्त मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है उसको वीतराग देव ने क्षीण कषाय नाम का बारहवां गुणस्थानवर्ती कहा है।

तेरहवें गुणस्थान का वर्णन

केवलणाण दिवायर किरण कलावप्पणासिअण्णाणो।
णवकेवललद्धुग्गम सुजणियपरमप्प ववएसो।। 63
असहायणाण दंसणसहियो इदि केवली हु जोगेण।
जूत्तो त्ति सजोगि जिणो, अणाइणिहणारिसे उत्तो।। 64

जिसका केवलज्ञान रूपी सूर्य की अविभाग प्रतिच्छेद रूप किरणों के समूह से (उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण) अज्ञान अंधकार सर्वथा नष्ट हो गया हो और जिसको नव केवललब्धियों के (क्षायिक-सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) प्रकट होने से परमात्मा यह व्यपदेश (संज्ञा) प्राप्त हो गया है, वह इन्द्रियाँ, आलोक आदि की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान दर्शन से युक्त होने के कारण केवली और योग से युक्त रहने के कारण सयोग तथा घाति कर्मों से रहित होने के कारण जिन कहा जाता है, ऐसा अनादिनिधन आर्ष आगम में कहा है।

चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान का वर्णन

सीलेसिं संपत्तोणिरुद्धणिस्सेस आसओ जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि।। 65

जो अठारह हजार शील के भेदों के स्वामी हो चुके हैं और जिसके कर्मों के आने का द्वाररूप आस्रव सर्वथा बंद हो गया है तथा सत्त्व और उदयरूप अवस्था को प्राप्त कर्मरूप रज की सर्वथा निर्जरा होने से जो उस कर्म से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख है, उस योग रहित केवली को चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली कहते है।।

उपर्युक्त जो मार्गणा एवं गुणस्थान का वर्णन किया गया है, इसमें संपूर्ण संसारी जीवों का कथन है तथापि दोनों में कुछ सूक्ष्म भेद है। वह भेद यह है कि मार्गणा स्थान में तो विशेषतः बाह्य गति, शरीर, इन्द्रिय आदि को माध्यम करके प्ररुपणा की गयी है तो गुणस्थान में अंतरंग भावों को प्रधानता दी गयी है।

''**सव्वे सुद्धा हू सुद्धणया**'' यह सिद्धांत बहुत ही व्यापक एवं रहस्यपूर्ण है। इस सिद्धांत से सिद्ध होता है कि आध्यात्मिक दुष्टि से कोई भी जीव न छोटा है और न बड़ा है। भले ही ब्राह्य शरीर, गति इन्द्रिय आदि से या गुणस्थान की अपेक्षा छोटे-बड़े हो सकते हैं। विशेष जिज्ञासु को प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, समयसार आदि का अवलोकन करना चाहिए। यह जैन धर्म का सार्वभौम/साम्यभाव/समताभाव/समानाधिकार सिद्धांत है। इस सिद्धांत से ही राजनीति में समाजवाद, लोकतंत्र, साम्यवाद की सही स्थापना हो सकती है। इसी से ही विश्व मैत्री, विश्वप्रेम, विश्वसमाज, विश्वबंधुत्व निरस्त्रीकरण (अस्त्ररहित राष्ट्र निर्माण) विश्वशांति आदि महान् उदात्त भावना की संपूर्ति हो सकती है। सिद्धांततः शुद्ध निश्चय नय से संसारी जीव भी अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख संपन्न सिद्ध भगवान् के समान होते हुए भी व्यवहारतः अशुद्धनय से संसारी जीव सिद्ध स्वरूप नहीं है। क्योंकि संसारी जीव कर्म परतंत्रता के कारण संसार अवस्था में अनंत शारीरिक, मानसिक दुःखों को भोगता रहता है। यदि व्यवहार नय से भी शुद्ध मानेंगे तो अनुभव रूप में उपलब्ध रूप जो दुःख है कर्म परतंत्रता है उसका अभाव होने का प्रसंग आएगा परंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है और एक अनर्थ यह हो जाएगा कि संसारी जीव मुक्त जीव की तरह अनंत सुखी होगा तो मोक्ष के लिए जो भगवान् का उपदेश एवं सिद्धि की साधना की जाती है वह भी निष्फल हो जाएगी। यदि शुद्ध निश्चयनय को मानते हुए

व्यवहार नय को नहीं मानेंगे तो सिद्ध भगवान् तथा संसार में स्थित अभव्य मिथ्यादृष्टि कीड़े-मकोड़े, कुत्ता, सियार, सुअर, नारकी, पापी, कामी आदि जीवों में किसी में भी किसी प्रकार अंतर नहीं रहेगा। अभव्य तो सम्यग्दृष्टि तक कभी भी हो सकता तो वह सिद्ध कैसे हो सकता है? इतना ही नहीं, संसार मोक्ष, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मुनि व्रत, श्रावक व्रत, धर्म ध्यान, शुक्लध्यान आदि का भी लोप हो जाएगा।

द्रव्य संग्रह एक संक्षिप्त सूत्रबद्ध आध्यात्मिक ग्रंथ होने के कारण इसमें संक्षिप्त रूप से संसारी जीवों का वर्णन किया गया है। ऐसे तो जैन धर्म सर्वज्ञ प्रणीत, अनादि, अनिधन, अनेकांतात्मक वस्तु स्वरूप एवं अहिंसा प्रधान होने के कारण इस धर्म में जीवों का जितना सांगोपांग, व्यापक-सूक्ष्म वर्णन पाया जाता है ऐसा वर्णन अन्यत्र नहीं पाया जाता है। विशेष जिज्ञासु विस्तृत अध्ययन के लिए गोम्मटसार जीवकांड, स्वतंत्रता के सूत्र (तत्वार्थ सूत्र) धवला आदि का आलंबन लें।

यहां पर जिन-जिन मुख्य प्रणालियों के माध्यम से जीवों का अन्वेषण शोध-बोध किया गया है। उसका कुछ दिग्दर्शन मैं यहां कर रहा हूं। यथा-

गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो विय कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा।। 2

गोम्मटजीवकाण्डे कर्णाटवृत्ति। पृ. 33

यहाँ चौदह गुणस्थान, अठानवें जीवसमास, छह पर्याप्ति, दस प्राण, चार संज्ञा, चार गति मार्गणा, पाँच इन्द्रिय-मार्गणा, छह काय-मार्गणा पन्द्रह योग-मार्गणा, तीन वेद-मार्गणा, चार दर्शन-मार्गणा, आठ ज्ञान-मार्गणा, सात संयम-मार्गणा, चार दर्शन-मार्गणा, दो संज्ञी-मार्गणा, दो आहार-मार्गणा, दो उपयोग इस प्रकार ये जीव प्ररुपणा बीस कही है। प्रत्येक प्ररूपणा की निरुक्ति कहते हैं- ''गुण्यते अर्थात् जिसके द्वारा द्रव्य से द्रव्यांतर को जाना जाता है वह गुण है। कर्म की उपाधि की अपेक्षा सहित ज्ञान, दर्शन, उपयोगरूप चैतन्य प्राणों से जो जीता है वह जीव है। वे जीव जिनमें सम्यक्रूप से ''आसते'' रहते हैं वे जीवसमास हैं। ''परि'' अर्थात् समंतरूप से आप्ति अर्थात् प्राप्ति पर्याप्ति है, जिसका अर्थ है शक्ति की निष्पत्ति। जिनसे जीव ''प्राणन्ति जीते हैं अर्थात् जीवित व्यवहार के

योग्य होते हैं वे प्राण हैं। आगम प्रसिद्ध वांछा या अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं। जिनके द्वारा या जिनमें जीव ''मृग्यन्ते'' खोजे जाते हैं वे मार्गणा हैं। मार्गयिता-खोजने वाला तत्वार्थ का श्रद्धालु भव्यजीव हैं। ''मृग्य'' अर्थात् खोजने योग्य चौदह मार्गणा वाले जीव हैं मृग्यपने के कारणपने या अधिकरणपने को प्राप्त गति आदि मार्गणाओं में उन-उन मार्गणावाले जीवों को खोजा जाता है। ज्ञान सामान्य और दर्शन सामान्य रूप उपयोग मार्गणा का उपाय है। इस प्रकार इन प्ररुपणाओं के सामान्य अर्थ का कथन किया।

जीव के सिद्ध स्वरूप एवं उर्ध्वगमन स्वभाव

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूण चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहि संजुत्ता।। 14
निष्कर्माणः अष्टगुणा किञ्चिदूनाः चरमदेहतः सिद्धाः।
लोकाग्रस्थिताः नित्याः उत्पादव्ययाभ्यां संयुक्ताः।।

The Siddhas (or libreated Jivas) are void of Karmas, Possessed of eight qualities, slighty less then the final body, eternal, possessed of Utpada (rise) and Vyaya (fall) and existent at the summit of Loka.

जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक हैं तथा अंतिम शरीर से कुछ कम हैं वे सिद्ध हैं और ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद और व्यय इन दोनों से युक्त हैं।

इस गाथा में आचार्य श्री ने जीव के सिद्धत्व एवं ऊर्ध्वगमन का वर्णन किया है। तेरहवीं गाथा के पूर्वार्ध में चौदहवें गुणस्थान तक का वर्णन किया गया है। सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से 14वें गुणस्थान तक संसार अवस्था है क्योंकि इस गुणस्थान में भी चार अघाति कर्म की सत्ता है। भले ही इस गुणस्थान में चार घाति कर्म न होने के कारण अनंत चतुष्टय प्रगट हो गया है एवं भाव मोक्ष भी हो गया है तथापि द्रव्य-मोक्ष एवं संपूर्ण मोक्ष नहीं हुआ है। 14वें गुणस्थान के अंतिम समय में संपूर्ण कर्मों को क्षय से जीव पूर्ण मुक्त हो जाता है। समस्त विरोधात्मक कर्म के अभाव से जीव के

अनंत गुण प्रगट हो जाते हैं तथापि सिद्ध के आठ कर्म के अभाव से आठ विशेष गुण प्रगट होते हैं। यथा–

सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वावाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं।।

1. सम्यक्त्व 2. अनंत ज्ञान 3. अनंत दर्शन 4. अनंत वीर्य 5. सूक्ष्मत्व 6. अवगाहनत्व 7. अगुरुलघुत्व 8. अव्याबाधत्व।

सिद्ध भगवान् में जो आठ गुण प्रगट होते हैं वे आठ कर्मों के संपूर्ण क्षय से प्रगट होते हैं। यथा–

	कर्म का अभाव	गुण प्रगट
1.	ज्ञानवरणीय कर्म	अनंत ज्ञान गुण
2.	दर्शनावरणीय कर्म	अनंत दर्शन गुण
3.	मोहनीय कर्म	सम्यक्त्व गुण
4.	अंतराय कर्म	अनंत वीर्य गुण
5.	वेदनीय कर्म	अव्याबाध गुण
6.	आयु कर्म	अवगाहनत्व गुण
7.	नाम कर्म	सूक्ष्मत्व गुण
8.	गोत्र कर्म	अगुरुलघुत्व गुण

सिद्ध भगवान् संपूर्ण कर्म से रहित होने के कारण अमूर्तिक हैं, इसलिए उनका मूर्तिक आकार नहीं है तथापि अनंत गुणों का अखंड पिण्ड होने के कारण एवं प्रदेशत्व गुण होने के कारण उनका बहुत ही सुंदर आकार होता है। वह आकार अंतिम शरीर के किंचित् न्यून (कुछ छोटा) है। भले संसारी जीवों के शरीर में यहाँ तक कि अर्हंत् भगवान् के शरीर में भी छेद है, पोल है परंतु सिद्ध भगवान् के आत्म प्रदेश में (सिद्धाकार में) किसी प्रकार छेद या पोल नहीं होता है। इसलिए सिद्ध भगवान् की प्रतिमा सुंदर, सुरुचिपूर्ण, समचतुरस्त्र संस्थान युक्त घनाकार होती हैं अरिहंत की प्रतिमा अष्ट प्रतिहार्य, लांछन एवं केश आदि से युक्त होती है किंतु सिद्ध प्रतिमा इन अष्ट प्रतिहार्यादि से रहित होती है। अनेक अकृत्रिम सिद्ध प्रतिमायें होती हैं। नवदेवता में सिद्ध भगवान् की प्रतिमा होती है और अलग से भी सिद्ध

भगवान् की प्रतिमा होती है।

कर्नाटक के शेडबाल में रत्नत्रय मंदिर में एक विशाल सिद्ध भगवान् की प्रतिमा है। होसदुर्ग में भी सिद्ध भगवान् की प्रतिमा है। वर्तमान में जो सिद्ध भगवान् की खोखली प्रतिमा बनाते हैं वह आगमोक्त नहीं है। खंडित प्रतिमा अपूज्यनीय है, तो खोखली सिद्ध भगवान् की प्रतिमा में तो और भी अधिक आंगोपांग की कमी है तो वह प्रतिमा कैसे पूज्यनीय है?

अष्ट कर्म से रहित होते ही सिद्ध जीव 1 समय में 7 राजु दूरी को पार करके लोकाग्र में जाकर स्थिर हो जाते हैं।

ऊर्ध्वगमन करना जीव का स्वाभाविक गुण है तथापि कर्म परतंत्रता के कारण जीव विभिन्न गति में गमन करता है परंतु कर्म से रहित होने से स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से ऋजुगति से गमन करता है कहा भी है-

पयडि ट्ठिदि अणुभागप्पदेस बंधेहि सव्वदो मुक्को।
उड्ठं गच्छदि सेसा विदिसा वज्जं गदिं जंति।।

प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध, प्रदेश बंध से सम्पूर्ण रूप से मुक्त होने के बाद परिशुद्ध, स्वतंत्र, शुद्धात्मा तिर्यक आदि गतियों को छोड़ कर ऊर्ध्वगमन करता है। स्वतंत्रता के सूत्र/मोक्षशास्त्र में मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन के विभिन्न कारण बताते हुए कहा है-

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च। 6

पूर्व प्रयोग से, संग का अभाव होने से, बंधन के टूटने से, वैसा गमन करना स्वभाव होने से मुक्त जीवन ऊर्ध्वगमन करता है।

संसारी जीव ने मुक्त होने से पहले कितनी बार मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया है अतः पूर्व का संस्कार होने से जीव ऊर्ध्वगमन करता है जीव जब तक कर्मभार सहित रहता है तब तक संसार में बिना किसी नियम के गमन करता है और कर्मभार से रहित हो जाने पर ऊपर को ही गमन करता है। अन्य जन्म के कारणभूत गति, जाति आदि समस्त कर्मबंध के उच्छेद हो जाने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है। आगम में जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने वाला बताया है। अतः कर्म नष्ट हो जाने पर अपने स्वाभाविक अवस्था के कारण मुक्तात्मा का एक समय तक

ऊर्ध्वगमन होता है।

भगवती आराधना में कहा गया है–

तं सो बंधणमुक्को उड्ढंजीवो पओगदो जादि।
जह एरण्डयबीयं बंधणमुक्कं समुप्पगदि।। 2121

इस प्रकार बंधन से मुक्त हुआ वह जीव वेग से ऊपर को जाता है जैसे बंधन से मुक्त हुआ एरण्ड का बीज ऊपर हो जाता है।

संगउ विजहणेण य लहुदयाए उड्ढं पयादि सो जीवो।
जध आलाउ अलेओ उप्पददि जले णिबुड्ढो वि।। 2122

समस्त कर्म नो कर्मरूप भार से मुक्त होने के कारण हल्का हो जाने से वह जीव ऊपर को जाता है। जैसे मिट्टी के लेप रहित तूम्बी जल में डूबने पर भी ऊपर ही जाती है।

झाणेण य तह अप्पा पओगदो जेण जादि सो उड्ढं।
वेगेण पूरिदो जह ठाइदुकामो विय ण ठादि।। 2123

जैसे वेग से पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहते हुए भी नहीं ठहर पाता है वैसे ही ध्यान के प्रयोग से आत्मा ऊपर हो जाता है।

जह वा अग्गिस्स सिहा सहावदो चेच होहि उड्ढं गदी।
जीवस्स तह सभावो उड्ढगमणमप्पवसियस्स।। 2124

अथवा जैसे आग की लपट स्वभाव से ही ऊपर जाती है वैसे ही कर्म रहित स्वाधीन आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है।

तो सो अविग्गहाए गदीए समए अणंतरे चेव।
पावदि लोयस्स सिहरं खित्तं कालेण य फुसंतो।। 2125

कर्मों का क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समय वाली मोड़े रहित गति से सात राजु प्रमाण आकाश के प्रदेशों का स्पर्श न करते अर्थात् अत्यंत तीव्र वेग से लोक के शिखर पर विराजमान हो जाता है।

शुद्ध जीव एवं शुद्ध परमाणु तीव्र गति से गमन करने पर एक समय में 14 राजु (विश्व के एक छोर से अन्य अंतिम छोर अर्थात् असंख्यात आलोक वर्ष) गमन कर सकते हैं। परंतु मर्त्य–लोक के अढ़ाई द्वीप से जीव

सिद्ध होता है, मध्य लोक से लोकाग्र 7 राजु है इसलिए सिद्ध भगवान् 7 राजु गमन करते हैं। समय का कोई भेद नहीं होता है इसलिए 7 राजु गमन के लिए भी 1 समय लगता है। यह सूक्ष्म गणितीय सिद्धांत है। परमाणु जघन्य रूप से एक प्रदेश से लेकर उत्कृष्ट रूप से 14 राजु गमन कर सकता है अर्थात् मध्य में इसके असंख्यात भेद हो जाते हैं। यहां प्रश्न होना स्वाभाविक है कि सिद्ध भगवान् में अनंत शक्ति, ऊर्ध्वगमनत्व शक्ति रहते हुए एवं आकाश और काल अनंत होते हुए भी सिद्ध भगवान् 7 राजु गमन करके लोकाकाश के अंतिम में क्यों स्थित हो जाते हैं? इसका धार्मिक एवं वैज्ञानिक कारण यह है कि गमन करने के लिए अंतरंग और बहिरंग कारण चाहिए। बहिरंग कारण में बाह्य उदासीन निमित्तभूत धर्मास्तिकाय का अभाव है। इसलिए उदासीन निमित्त कारणों से सिद्ध जीव लोकाकाश से एक प्रदेश भी आगे गमन नहीं कर पाते हैं।

धर्मास्तिकायाभावात्। 8

धर्मास्तिकाय का अभाव होने सेजीव लोकांत से और ऊपर नहीं जाता।

गत्युपग्रहकारकभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः।

तद्भावे च लोकालोक विभागाभावः प्रसज्यते।।

गति के उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकांत के ऊपर नहीं है इसलिए मुक्त जीव का अलोक में गमन नहीं होता और यदि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने पर भी अलोक में गमन माना जाता है तो लोकालोक के विभाग का अभाव प्राप्त होता है।

न धर्माभावतः सिद्धा गच्छन्ति परतस्ततः।
धर्मोहि सर्वदा कर्त्ता जीव पुद्गलयोर्गतेः।।

त्रैलोक्य के अंत तक धर्मास्तिकाय होने से सिद्ध जीवों की गति लोकांत तक ही होती है। अलोक में जीव और पुद्गल के गति हेतु का अभाव होने से लोक के ऊपर गति नही होती। विशेष जिज्ञासु के लिए मेरा (कनकनन्दी) ''विश्व विज्ञान रहस्य'' एवं ''स्वतंत्रता के सूत्र'' अवलोकनीय है।

उपर्युक्त सिद्धांत से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्यों के लिए जितने अंतरंग एवं बहिरंग कारण चाहिए उनका सद्भाव भी चाहिए और विरोध कारण का अभाव भी चाहिए इसके बिना कार्य नहीं हो सकता है। जो एकांतवादी मानते हैं कि केवल उपादान कारण से कार्य होता है निमित्तों की आवश्यकता नहीं है उनके लिए यह विषय एक अजेय चुनौती पूर्ण हैं क्योकि सिद्ध भगवान् में पूर्ण उपादान कारण हैं तो भी गमन नहीं होने के कारण उदासीन कारण का नहीं होना है। यदि उदासीन कारण से सिद्ध भगवान् गमन नहीं कर पाते हैं तो अन्य-अन्य कार्यों के लिए क्या यथा योग्य कारण नहीं चाहिए? अवश्य चाहिए।

सिद्ध भगवान् समस्त कर्मों से रहित होने के कारण उनमें अशुद्ध उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं है तथापि सिद्ध अवस्था में भी शुद्ध रूप में उत्पाद व्यय ध्रौव्य शीलता है। तत्वार्थ सूत्र में द्रव्य का लक्षण विभिन्न दृष्टिकोण से बताते हुए कहा भी है-

सद्द्रव्य लक्षणम् । 29

द्रव्य का लक्षण सत् है।

Matter and energy neither be created nor destroyed. Each can be completely changed into another form or into one another.

विज्ञान के मूलभूत सिद्धांत यह है कि किसी नई वस्तु की सृष्टि नहीं होती है एवं कोई वस्तु संपूर्ण रूप से नष्ट नहीं होती है केवल उसके आकार और पर्याय में परिवर्तन होता है।

दवियदि गच्छति ताइं ताइं सब्भाव पज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो।। 9 पंचास्तिकाय

What flows or maintains its identity through its several qualities and modification and what is not different from satta or substance, that is called dravya by the all knowing.

उन-उन सद्भावपर्यायों का जो द्रवित होता है- प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं- जो कि सत्ता से अनन्यभूत हैं।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । 30

उत्पाद- Sat (is a) simultaneous possession (of) coming into existence birth.

व्यय- Going out of existence, decay, and

ध्रौव्य - Continuous sameness of existence, permanence.

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त अर्थात् इन तीनों रूप है वह सत् हैं।

द्रव्य सत् स्वरूप होने के कारण द्रव्य अनादि से है तथा अनंत तक रहेगा। तथापि यह सत् अपरितर्वन नहीं है, बल्कि नित्य परिवर्तनशील है। नित्य परिवर्तनशील होते हुए भी इसका नाश नहीं होता है। इसलिए उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का सदा सद्भाव होता है इसलिए सदा सत् स्वरूप ही रहता है।

उत्पाद- स्वजाति को न छोड़ते हुए भावांतर पर्यायान्तर की प्राप्ति उत्पाद है। चेतन या अचेतन द्रव्य का स्वजाति को न छोड़ते हुए भी जो पर्यायान्तर की प्राप्ति है वह उत्पाद है। जैसे- मृत्पिण्ड में घट पर्याय अर्थात् मिट्टी जैसे अपने मिट्टी स्वभाव को छोड़कर घट पर्याय से उत्पन्न होती है वह घट उसका उत्पाद है। उसी प्रकार जीव या पुद्गलादि अजीव पदार्थ अपने स्वभाव को न छोड़कर पर्यायान्तर से परिणमन करते हैं।

व्यय - उसी प्रकार स्वजाति को न छोड़ते हुए पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। स्वजाति को न छोड़ते हुए चेतन वा अचेतन पदार्थ की पूर्व पर्याय का जो नाश होता है वह ''व्यय'' है। जैसे कि घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिण्डाकार का नाश होता है।

ध्रौव्य - ध्रुव-स्थैर्य कर्म का स्थिर रहना ध्रौव्य है। अनादि परिणामिक स्वभाव से व्यय और उत्पाद का अभाव है अर्थात् अनादि पारिमाणिक स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य का उत्पाद-व्यय नहीं होता है। द्रव्य ध्रुव रूप से

रहता है अर्थात् स्थिर रहता है उसको ध्रुव कहते हैं और ध्रुव का जो भी भाव या कर्म है, वह ध्रौव्य कहलाता है। जैसे कि पिण्ड और घट दोनों अवस्थाओं मृदुपना का अन्वय रहता है।

अगुरुलघु गुण के कारण भी सिद्ध भगवान् में उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता है। ज्ञेयों में जो परिवर्तन होता है उसके अनुसार ज्ञान में परिवर्तन होता है उस अपेक्षा से भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता है।

अजीव द्रव्य के भेद-प्रभेद

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा हु ।। 15
अजीवः पुनः ज्ञेयः पुद्गलः धर्मः अधर्मः आकाशम्।
कालः पुद्गलः मूर्तः रूपादिगुणः अमूर्ताः शेषाः तु।।

Again, Ajivas should be known to be Pudgala, Dharma, Adharma, Akasa and Kala. Pudgala has form and the qualities, (Rupa etc) but the rest are without form.

और पुद्गल धर्म अधर्म आकाश तथा काल इन पांचों को अजीव द्रव्य जानना चाहिए। इनमें पुद्गल तो मूर्तिमान है। क्योंकि रूप आदि गुणों का धारक है और शेष (बाकी) के चारों अमूर्त हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र में कहा भी है-

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः। *स्वतंत्रता के सूत्र पृ. 265*

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये अजीवकाय हैं।

सम्यग्दर्शन के कारणभूत अर्थात् श्रद्धेय/श्रद्धा करने योग्य द्रव्यों से जीव द्रव्य का वर्णन गाथा 14 में सविस्तार से किया गया है। इस गाथा में अजीव द्रव्य का वर्णन सूत्रबद्ध सारगर्भित वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया गया है। स्वजीव द्रव्य को जानने के लिए पर अजीव द्रव्य का ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि जब तक स्व एवं पर कर ज्ञान नहीं होगा तब तक स्व

का ग्रहण एवं पर का त्याग नहीं हो सकता। छहढाला में कहा है ''बिन जाने ते दोष गुणन को, कैसे तजिये गहिये।'' अनादि काल से जीव एवं अजीव (पुद्गल कर्म परमाणु) का संश्लेष संबंध हुआ है, जिसके कारण जीव, पुद्गल से प्रभावित होकर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र रूप में परिणत होकर स्व-पर ज्ञान के भेद से रहित होकर स्व द्रव्य को पर द्रव्य एवं पर द्रव्य को स्व द्रव्य मान बैठा है। इसके कारण भी जीव अनादिकाल से भ्रमण करता हुआ अनंत दुःख को भोग रहा है। इसलिए स्व द्रव्य को जानने के लिए पर द्रव्य को जानना अनिवार्य है। स्व द्रव्य को जानकर, स्वद्रव्य को अन्य द्रव्य से अलग करना मोक्षमार्ग का, मोक्ष प्राप्ति का प्रधान एवं प्रथम कारण है।

जैसे वैज्ञानिक, प्रयोगशाला में अनेक तत्व से मिले हुए मिश्रण को वैज्ञानिक-प्रणाली से पृथक करते हैं वैसे आध्यात्मिक प्रयोगशाला में जीव एवं अजीव रूप मिश्रण से स्व द्रव्य का अलग करना है। जैसे भौतिक मिश्रण को अलग करने के लिए उस मौलिक भौतिक तत्त्व का ज्ञान करना आवश्यक है, जिससे हम पृथक् कर सकते हैं वैसे ही वीतराग रूपी प्रयोगशाला में जीव के साथ अजीव द्रव्य का ज्ञान करना आवश्यक है। यही जैनागम का सारभूत एवं सत्य तथ्य है। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है-

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रह।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।। 50

''जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है'' बस इतना ही तत्व के कथन का सार है, इसी में सब कुछ आ गया है। इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसी का विस्तार है।

आगासकाल जीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा।
मुत्तं पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु।।

पंचास्तिकाय

जिसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण पाए जाते हैं वे मूर्त द्रव्य हैं। स्पर्श, गंध, वर्ण स्वभाव से रहित द्रव्य अमूर्त चैतन्य सद्भाव द्रव्य को चेतन द्रव्य कहते

हैं। आकाश, काल, जीव, धर्म, अधर्म द्रव्य मूर्तिक स्वभाव से रहित होने के कारण अमूर्तिक द्रव्य हैं। पुद्गल द्रव्य मूर्तिक स्वभाव वाला होने के कारण मूर्त है। केवल एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक है अन्य द्रव्य नहीं हैं। एक जीव द्रव्य ही चेतन है अन्य आकाश, काल, धर्म, अधर्म एवं पुद्गल द्रव्य अचेतन है।

मूर्त–अमूर्त लक्षण

जे खलु इंदियगेज्झा विसया जीवेहिं होंति ते मुत्ता।
सेसं हवदि अमुत्तं चित्त उभयं समादियदि।। 99

जो पांचों इंद्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, वे सर्व मूर्तिक हैं। इससे रहित अमूर्ति हैं। मन के विषय मूर्तिक एवं अमूर्तिक दोनों हैं। स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु एवं कर्ण रूपी इंद्रियां पौद्गलिक होने के कारण इनके विषयभूत कोमल–कठोर आदि स्पर्श, खट्टा–मीठादि रस, सुगंध–दुर्गंधादि गंध, काला पीलादि वर्ण एवं शब्द रुप परिणमन करने वाले पुद्गल स्कंध एवं इन गुणों से युक्त द्रव्य भी पौद्गलिक ही हैं क्योंकि पौद्गलिक इंद्रियों में अमूर्तिक वस्तुओं को ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती है। कोई एक सूक्ष्म रूप परिणमन रूप स्कंध एवं परमाणु यद्यपि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने में नहीं आते तथापि इन पुद्गलों में ऐसी शक्ति है कि यदि वे कालांतर में स्थूलता को धारण करें तो इन्द्रिय के ग्रहण करने योग्य होते हैं। इस शक्ति की अपेक्षा एवं उससे स्पर्शादि गुणों की सद्भाव की अपेक्षा उनको इन्द्रियग्राह्य ही कहा जाता है। मन अपने विचार से मूर्तिक–अमूर्तिक दोनों वस्तुओं को जानता है। मन जब पदार्थ को ग्रहण करता है तब पदार्थ में नहीं जाता किंतु आप ही संकल्प रूप होकर वस्तु को जानता है। मतिश्रुतज्ञान का साधन मन है। मतिश्रुत ज्ञान का विषय समस्त द्रव्यों की कुछ पर्याय हैं। द्रव्यआगम पुद्गल स्वरूप होने पर भी आगम अमूर्तिक है। अमूर्तिक भाव आगम के द्वारा एवं मन अपने विचारों से मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थों को जानता है।

मूर्त एवं अमूर्त द्रव्य

मूर्तामूर्ताविशेषश्च द्रव्याणं सयान्निसर्गतः।
मूर्त स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत्।।

7 पञ्चाध्यायी अ. 2

छहों द्रव्यों में कुछ द्रव्य तो मूर्त हैं और कुछ अमूर्त हैं। द्रव्यों में यह मूर्त और अमूर्त का भेद स्वभाव से ही है किसी निमित्त से किया हुआ नहीं है। जो इन्द्रियों से जाना जाय उसे मूर्त कहते हैं और जो इन्द्रियों के आगोचर हो उसे अमूर्त कहते हैं।

न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्त स्यादवास्तवम्।
सर्व शून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथा सति।।

8 पञ्चाध्यायी

मूर्त पदार्थ ही वास्तविक है अमूर्त पदार्थ वास्तविक नहीं है यह बात भी नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से सब पदार्थों की शून्यता का प्रसंग आ जाएगा।

कितने ही मनुष्य, पुरुष प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थों को ही मानते हैं, परोक्ष पदार्थ को नहीं मानते परंतु परोक्ष पदार्थों के स्वीकार किये बिना पदार्थों की व्यवस्था ही नहीं बन सकती। परोक्ष पदार्थों की सत्ता, अनुमान और आगम से मानी जाती है। अविनाभावी हेतु से अनुमान प्रमाण माना जाता है और स्वानुभवन अखंड युक्ति तथा अबाधकपने से आगम प्रमाण माना जाता है।

पुद्गल के बिना धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों में रुप आदि गुणों का अभाव होने से अमूर्त हैं। जैसे- अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य ये चारों गुण सब जीवों में साधारण हैं उसी प्रकार रूप, रस, गंध तथा स्पर्श ये चारों गुण सब पुद्गलों में साधारण हैं। जैसे शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव के धारक सिद्ध में अनन्त चतुष्टय अतीन्द्रिय हैं; उसी प्रकार शुद्ध पुद्गल परमाणु द्रव्य में रुप आदि चतुष्टय अतीन्द्रिय हैं। जैसे- राग आदि स्नेह रहित निज परमात्मा की भावना के बल से राग अदि स्निग्धता का विनाश होने पर अनन्त चतुष्टय का शुद्धत्व है, वैसे ''जघन्य गुणों का बंध नहीं होता है'' इस वचन से परमाणु द्रव्य में स्निग्ध-रुक्षत्व गुण की जघन्यता होने पर रूप आदि चतुष्टय का शुद्धत्व समझना चाहिए।

वृहद्द्रव्य संगह पृ. स 40

पुद्गल की विभाव पर्यायें

सद्दो बंधो सुहुमोथूलो संठाणभेदतमछाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया।। 16

शब्दः बन्धः सूक्ष्मः स्थूलः संस्थानभेदतमश्छायाः।
उद्योतातपसहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः।।

Sound, Union, Fitnesss, Grossness, Shape, Division, Darkness and Image with Lustre and Heat (are) modification of the substance (known as) Pudgala.

शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप इनके सहित जो हैं वे सब पुद्गल की पर्याय हैं।

15वीं गाथा में पुद्गल द्रव्य की प्रकारान्तर से ''पुग्गल मुत्तोरूवादि गुणो'' कहकर परिभाषा दी गयी है अर्थात् पुद्गल मूर्तिक है क्योंकि उसमें रूपादि गुण है। इस गाथा में पुद्गल द्रव्य की विभाव व्यंजन पर्यायों का वर्णन किया गया है। पांचों इंद्रियों के जितने भी विषय हैं वे सब पुद्गल की स्थूल पर्याय हैं भले कुछ पुद्गल की सूक्ष्म पर्याय भी इंद्रियों के विषय नहीं है। इस गाथा में आधुनिक भौतिक विज्ञान एवं रासायनिक विज्ञान का हर विषय का दिग्दर्शन संक्षिप्त रूप में किया गया है। जब आधुनिक विज्ञान का उदय तक नहीं हुआ था उसके पहले इस ग्रंथ की रचना हुई थी और उस समय भी हमारे ग्रंथकर्ताओं ने आधुनिक विज्ञान की सर्वश्रेष्ठ शाखा भौतिक विज्ञान एवं रसायनिक विज्ञान के हर पहलु को संक्षिप्त रूप में सूत्रबद्ध किया है। इससे सिद्ध होता है कि भारतीय लोग एवं विशेषकर जैनाचार्य पहले से मनोवैज्ञानिक रहे हैं। इसका कारण यह है कि जैन धर्म के जो प्रचारक तीर्थंकर होते हैं वे विश्व विज्ञान के पूर्ण ज्ञाता एवं 718 भाषाओं के ज्ञाता होते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित विषय को ही हमारे आचार्य अध्ययन करते हैं, मनन करते हैं, लिपिबद्ध करते हैं, पढ़ाते हैं एवं प्रचार-प्रसार करते हैं। इसलिए प्राचीन काल से ही जैन धर्म में संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान समाहित है। निम्न पंक्तियों में गाथोक्त पौद्गलिक विभिन्न पर्यायों का संक्षिप्त वर्णन किया है-

1. शब्द- दो स्कंध के परस्पर घर्षण या टकराव से जो कंपन होता है, उससे तरंगें निकलती हैं। उसमें से जो तरंग कर्ण इन्द्रिय का विषय होती हैं उसे ''शब्द'' कहते हैं। जब दो स्कंध के टकराव से कंपन होता है उसमें

लोकाकाश में व्याप्त शब्द–वर्गणा भी कंपित होती है एवं वह तरंग उत्पन्न केंद्र से दसों दिशाओं में योग्य परिस्थिति को प्राप्त करके विश्व में फैलती जाती है। जिस प्रकार शांत जलाशय में ऊपर से पत्थर फेंकने पर पत्थर एवं जल में जो टकराव होता है उसमें तरंगें निकलती हैं और वे तरंगें तीर (किनारे तक) धीरे–धीरे फैलती जाती है। शक्तिशाली तरंगे तीर तक जाकर वापस भी हो जाती हैं। इसी प्रकार शक्तिशाली तरंग भी केंद्र बिन्दु से दसों–दिशाओं में फैलते–फैलते लोकाकाश तक जाकर वापिस भी होती हैं। जिस प्रकार बीजापुर कर्नाटक राज्य के गोल गुम्बज में शब्द उत्पन्न होने पर वह शब्द गुम्बज की दीवारों से टकराकर वापस होता है। इसे ही ''प्रतिध्वनि'' कहते हैं। इस ''शब्द'' तरंग को फैलने के लिए शब्द वर्गणा के साथ–साथ धर्मद्रव्य गति माध्यम/ईथर की आवश्यकता होती है। आधुनिक रेड़ियों, बेतार के तार (वायरलेस) टेलीविजन, टेलीफोन आदि इस सिद्धांत के अनुसार कार्य करते हैं।

भाषात्मक तथा अभाषात्मक इस प्रकार शब्द दो प्रकार के है। उनमें भाषात्मक शब्द अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक भेद से दो प्रकार का है। उनमें भी संस्कृत, प्राकृत तथा उनके अपभ्रंशरूप पैशाची आदि भाषाओं के भेद से आर्य, म्लेच्छ मनुष्यों के व्यवहार का कारण अक्षरात्मक भेद भी अनेक प्रकार का है और अनक्षरात्मक भेद द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों में तथा सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि में है। अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक तथा वैस्रसिक भेद से दो प्रकार का है। उनमें ''वीणा आदि से उत्पन्न शब्द को तत, ढोल आदि से उत्पन्न शब्द को वितत, मंजीरे तथा ताल से उत्पन्न हुए शब्द को घन और बांस के छिद्र आदि से अर्थात् वंशी आदि से उत्पन्न शब्द को सुषिर कहते हैं।'' इस श्लोक में कथित क्रम के अनुसार प्रायोगिक (प्रयोग से उत्पन्न होने वाला) शब्द चार प्रकार का है और विस्रसा अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न वैस्रसिक शब्द जो कि मेघ आदि से उत्पन्न होता है वह अनेक प्रकर का है।

बृ. द्रव्य संग्रह, पृ. 40

2. बंध– पुद्गल में स्निग्ध एवं रुक्ष गुण के कारण परस्पर में जो संश्लेष संबंध होता है उसे बंध कहते हैं। बालु, सीमेंट और पानी को

समानुपात से मिलाने पर जो बंध होता है वह भी स्थूल पुद्गल बंध है। इसी प्रकार घर बनाने में जो गारा एवं ईंट, पत्थर का प्रयोग होता है वह भी पुद्गल बंध है। मिट्टी में पानी डालकर जो ईंट बनाते हैं वह भी पुद्गल बंध है। अणु-अणु, स्कंध-स्कंध एवं अणु-स्कंध में भी बंध होता है। कार्माण-वर्गणा का जीव के साथ जो संश्लेष संबंध होता है वह भी बंध है। विशेष जिज्ञासु बंध प्रकरण को जानने के लिए मेरे ''कर्म का धार्मिक वैज्ञानिक विश्लेषण'' एवं ''स्वतंत्रता के सूत्र'' का अध्ययन करें।

3. सूक्ष्मत्व- सूक्ष्मत्व के दो भेद हैं। 1. अन्त्य 2. आपेक्षित। परमाणुओं में अन्त्य सूक्ष्मत्व है तथा बेल, आंवला और बेर आदि में आपेक्षित सूक्ष्मत्व है।

4. स्थूलत्व - स्थौल्य भी दो प्रकार का है- 1. अन्त्य 2. आपेक्षित। जगव्यापी महास्कंध में अन्त्य स्थौल्य है तथा बेर, आंवला और बेल आदि में आपेक्षित स्थौल्य है।

5. संस्थान- संस्थान का अर्थ आकृति (आकार) है। इसके दो भेद हैः 1. इत्थंलक्षण 2. अनित्थंलक्षण। जिसके विषय में यह संस्थान इस प्रकार है यह निर्देश दिया जा सके वह इत्थंलक्षण संस्थान है। वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत और परिमण्डल आदि ये सब इत्थंलक्षण संस्थान है तथा इसके अतिरिक्त मेघ आदि के आकार जो कि अनेक प्रकार के हैं और जिनके विषय में यह इस प्रकार का है यह नहीं कहा जा सकता वह अनित्थंलक्षण संस्थान हैं

6. भेद- भेद के छह भेद हैं- 1. उत्कर, 2. चूर्ण, 3. खण्ड, 4. चूर्णिका, 5. प्रतर, 6. अणुचटन। करोंत आदि से जो लकड़ी को चीरा जाता है वह उत्कर नाम का भेद है। जौ और गेहूं आदि का जो सत्तू और कनक आदि बनता है वह चूर्ण नामका भेद है। घट आदि के जो कपाल और शर्करा आदि टुकड़े होते हैं वह 'खंड' नामका भेद है। उड़द और मूंग आदि का जो खंड किया जाता है वह चूर्णिका नाम का भेद हैं। मेघ के जो अलग-अलग पटल अदि होते हैं वह ''प्रतर'' नामका भेद हैं। तपाये हुए लोहे के गोले आदि को घन आदि से पीटने पर जो स्फुलिंगे निकलते हैं वह ''अणुचटन'' नामका भेद है।

7. अंधकार– जिससे दृष्टि में प्रतिबंध होता है और जो प्रकाश का विरोधी है वह ''तम'' कहलाता है। अंधकार कोई अवास्तविक शून्य वस्तु नहीं है परंतु यह प्रकाश के विरोधी एक पौद्गलिक पर्याय हैं इस अंधकार में भी अनंतानंत परमाणु रूप स्कंध का सद्भाव है। उदाहरण के लिए जैसे– दीपक जल रहा है उस समय उसके आसपास का योग्य वातावरण प्रकाशित रहता है क्योंकि उस समय दीपक के प्रकाश के कारण आसपास में व्याप्त स्कंध प्रकाशरूप में परिवर्तित हो जाता है परंतु दीपक बंद होते ही प्रकाशरूप स्कंध अंधकार रूप स्कंध में परिवर्तित हो जाता है।

8. छाया– प्रकाश को रोकने वाले पदार्थों के निमित्त से जो पैदा होती है वह ''छाया'' कहलाती है। उसके दो भेद हैं– एक तो वर्णादि के विकार रूप में परिणत हुई और दूसरी प्रतिबिंब रूप। प्रकाश के विपरीत दिशा में स्थूल अपारदर्शी स्कंध के कारण स्कंध की छाया पड़ती है। जल में योग्य किनारे स्थित स्थूल वस्तु का प्रतिबिंब पड़ता है। इसी प्रकार दर्पण में भी प्रतिबिंब पड़ता है। कैमरे में छाया रूप प्रतिबिंब पड़ता है यह रंगीन कैमरे में रंगीन एवं व्हाइट ब्लैक कैमरे में व्हाइट ब्लैक पड़ता है इसलिए इसे छायाचित्र कहते हैं। इस सिद्धांत से ही फोटो, चलचित्र, सिनेमा (विडियो कैसेट) आदि बनते हैं।

9. आतप – जो सूर्य के निमित्त उष्ण प्रकाश होता है उसे ''आतप'' कहते हैं।

10. उद्योत – चंद्र, चंद्रकांत मणि और जुगनू से जो उष्णता रहित शीतल स्निग्ध प्रकाश मिलता है उसे ''उद्योत'' कहते हैं। गोम्मट्टसार कर्मकांड में आताप एवं उद्योत की परिभाषा दी गयी है। यथा–

मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा।
आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोओ।। 33

आग के मूल और प्रभा दोनों ही उष्ण रहते हैं। इस कारण से स्पर्श नामकर्म के उष्ण स्पर्श नामकर्म का उदय जानना और जिसकी केवल प्रभा किरणों के फैलाव ही उष्ण हो उसको आताप कहते हैं। इस आतप नामकर्म का उदय सूर्य के बिम्ब/विमान में उत्पन्न हुए बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय के

तिर्यंच जीवों के समझना तथा जिसकी प्रभा भी उष्णता रहित हो उसको नियम से ''उद्योत'' जानना।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूर्य 8 लाख 80 हजार मील व्यास वाला एक उतप्त गैस का पिण्ड है। इसमें हर समय अनेक अणु बम विस्फोट होने में जो ऊर्जा निकलती है उतना प्रकाश निकलता है। कुल ज्ञात 107 तत्वों में से पचास तत्व सूर्य के वायुमंडल में गैसों के रूप में उपस्थित पाए गए हैं। हाइड्रोजन, हीलियम, ऑक्सीजन, मैग्नीशियम, लोहा, सिलिकान, जिंक, पोटेशियम, कैल्सियम, एल्युमिनियम, तांबा, निकल, क्रोमियम, कोबाल्ट आदि। सूर्य के केंद्र में होने वाली क्रियाओं (फ्यूजन रिएक्शन) के लिए हाइड्रोजन ईंधन का काम करती है। सूर्य की बाहरी सतह का तापमान लगभग 5500 डिग्री सेल्सियस और केंद्र का लगभग 20 लाख अरब डिग्री सेल्सियस माना गया है। सूर्य ताप के रूप में शक्ति उत्पन्न करने में अपने कुल पदार्थ का चार अरब टन प्रति सैकेंड खर्च करता है। सूर्यसे पृथ्वी के एक वर्ग मील को 46,40,400 हार्स पावर और पूरी पृथ्वी को तीन लाख तीस हार्स पावर शक्ति ताप के रूप में मिलती है।

चंद्र एक उपग्रह है। सूर्य तो एक नक्षत्र होने के कारण एवं उष्ण गैसों का पिण्ड होने के कारण वह स्वप्रकाशी है किंतु चंद्र एक ठंडा उपग्रह होने के कारण इसमें स्व प्रकाश नहीं है परंतु सूर्य से प्रकाश होने के कारण पर प्रकाशी है। अभी तक जैन धर्म एवं विज्ञान के इस सिद्धांत में जो अंतर है उसका पूर्ण निराकरण एवं समन्वय नहीं हो पाया है। यह एक शोध का विषय है। इसका कुछ वर्णन मैंने मेरी कृति 'विश्व विज्ञान रहस्य'' में किया है जिज्ञासुओं के लिए अवलोकनीय है।

संपूर्ण भौतिक विश्व की संरचना पुद्गल से हुई है। दृश्यमान समस्त विश्व पौद्गलिक ही है। संसारी जीव के लिए पुद्गल की आवश्यकता सर्वोपरि है। अनादि काल से जीव एवं पुद्गल का संबंध होने के कारण संसारी जीव के शरीर, इन्द्रियां एवं मन यहां तक कि अशुद्ध भाव भी पुद्गल से जायमान है, प्रभावित हैं। आचार्य उमास्वामी ने भी कहा है यथा–

शरीरवाङ्मनः प्राणपानाः पुद्गलानाम्। 19

शरीर वांग्मनस्प्राण–अपानाः जीवानां पुद्गलानां उपकारः।

शरीर,वचन, मन और प्राणापान यह पुद्गलों का उपकार है।

इस सूत्र में संसारी जीवों के लिए पुद्गल का क्या–क्या उपकार है उसका वर्णन किया है। संसारी जीवों के पांचो शरीर वचन, मन, श्वासोच्छ्वास पुद्गल से बनते हैं अर्थात् शरीर आदि पुद्गल स्वरूप हैं। गोम्मट्टसार जीवकांड में विश्व में स्थित 23 पौद्गलिक वर्गणाओं में से किन–किन वर्गणाओं से उपरोक्त शरीर आदि बनते हैं उसका वर्णन निम्न प्रकार किया है–

आहारवग्गणादो तिण्णि सरीराणि होंति उस्सासो।
णिस्सासो वि ये तेजोवग्गणखंधादु तेजंगं।।

607 गो.सा., पृ. 272

तेईस जाति की वर्गणाओं में से आहारवर्गणा के द्वारा औदारिक, वैक्रियक, आहारक ये तीन शरीर और श्वासोच्छ्वास होते हैं तथा तेजोवर्गणा रूप स्कन्ध के द्वारा तैजस शरीर बनता है।

भासमणवग्गणादो कमेण भासा मणं च कम्मादो।
अट्ठदहकम्मदव्वं होदि ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।। 608

भाषा वर्गणा के द्वारा चार प्रकार का वचन, मनोवर्गणा के द्वारा हृदय स्थान में अष्ट दल कमल के आकार का द्रव्यमन तथा कार्माण वर्गणा के द्वारा आठ प्रकार के कर्म बनते हैं ऐसा जिनेंद्र देव ने कहा है।

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च। 20 पृ. 302

जीवानां सुख–दुःख जीवित–मरण–उपग्रहाश्च पुद्गलानामुपकारो भवति।

सुख–दुःख जीवित मरण ये भी पुद्गलों के उपकार हैं।

19 नंबर सूत्र में बताया गया है कि परिणाम विशेष की गृहीत पुद्गल जैसे शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास चतुष्टय क्रम से गमन, व्यवहरण, चिंतन और श्वासोच्छ्वास रूप से जीव का उपकार करते हैं वैसे सुख आदि भी पुद्गलकृत् उपकार हैं उसको बताने के लिए इस सूत्र में

कहते हैं कि सुख, दुःख, जीवन, मरण भी पुद्‌गल कृत उपकार हैं।

उपर्युक्त क्रिया-कलापों के अतिरिक्त पुद्गल के और भी विभिन्न क्रिया-कलाप हैं। वर्तमान वैज्ञानिक चमत्कार अधिकांशतः पौद्गलिक चमत्कार ही हैं। बैलगाड़ी से लेकर जेट-विमान तक, लकड़ी की पेटी से लेकर सुपर कम्प्यूटर तक, घी के दीपक से लेकर विद्युत प्रकाश तक, लाठी से लेकर अणुबम तक, चश्मा से लेकर शक्तिशाली दूरबीन एवं सूक्ष्मदर्शी यंत्र तक पौद्गलिक ही हैं। इसके साथ-साथ आकुंचन (सिकुड़ना) प्रसारण (फैलना) दूध-दही, भोजन-पानी, वस्त्र, वायु, मिट्‌टी, औषधि आदि पुद्गल की विभिन्न पर्यायें हैं।

द्रव्य संग्रह एक आध्यात्मिक ग्रंथ होते हुए भी इसमें जो जड़ भौतिक (पुद्गल) का वर्णन किया गया है उसका मुख्य उद्‌देश्य भेद-विज्ञान करना है एवं करवाना है। अनादिकाल से जीव, पौद्गलिक पर द्रव्यों, को अपना मानकर रचता है, पचता है एवं इसके कारण ही ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, शोषण, अन्याय, अत्याचार, युद्ध करता है। इसलिए आचार्य श्री ने यह प्रबोध दिया है कि तुम्हारा स्वरूप इससे भिन्न चैतन्य स्वरूप है तुम इन भौतिक वस्तुओं का मोह त्याग कर स्वयं को जानो पहिचानो एवं उपलब्धि करो यह इसका आध्यात्मिक भाव है।

गतिमाध्यम द्रव्य

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी।
तोयं जह मच्छाणं, अच्छंता णेव सो णेई।। 17
गतिपरिणतानां धर्मः पुद्गलजीवानां गमनसहकारी।
तोयं यथा मत्स्यानां अगच्छतां नैव सः नयति।।

As water assists the movement of moving fish, so Dharma (assists the movement of moving) pudgala and Jiva. (but) it does not move (Pudgala and Jiva which are) not moving.

गति/गमन में परिणत जो पुद्गल और जीव हैं उनके गमन में धर्म-द्रव्य सहकारी है। जैसे- मत्स्यों के गमन में जल सहकारी है और नहीं गमन

करते हुए पुद्‌गल और जीवों को वह धर्मद्रव्य कदापि गमन नहीं कराता है।

16वीं गाथा तक आचार्य श्री ने जीव एवं पुद्गल द्रव्य का संक्षिप्त सार गर्भित वर्णन किया है। इस गाथा में आचार्य श्री ने गतिशील/गति परिणत जीव एवं पुद्गल के लिए जो उदासीन कारणभूत धर्म द्रव्य है उसका वर्णन किया है। विश्व में जीव एवं पुद्गल में ही स्थानांतरित रूप गति क्रिया की शक्ति है। अर्थात् यह दोनों द्रव्य अंतरंग एवं बहिरंग कारण को प्राप्त कर गमन करते हैं। अन्य चारों द्रव्य परिणमन शील होते हुए भी स्थानांतरित रूप एवं परिस्पन्दात्मक रूप क्रिया नहीं करते हैं तथापि वे द्रव्य जीव एवं पुद्गल के लिए यथायोग्य उपकारी भी बनते हैं।

जिस प्रकार स्व शक्ति से गमन करती हुए रेल के लिए रेल की पटरी की परम आवश्यकता होती है, रेल की पटरी के बिना रेल नहीं चल सकती है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य गति क्रिया के लिए नितांत आवश्यक है। विश्व की समस्त स्थानांतरित रूप क्रिया (एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए गमन) बिना धर्म द्रव्य की सहायता से नहीं हो सकती है, यहां तक कि श्वासोच्छवास के लिए, रक्त संचालन के लिए, पलक झपकने के लिए, अंग-प्रत्यंग संकोच-विस्तार के लिए, तार बेतार के माध्यम से शब्द भेजने के लिए, रेडियो, टीवी, सिनेमा आदि में संवाद एवं चित्र भेजने के लिए देखने के लिए एवं सुनने के लिए ग्रह से ग्रहान्तर तक संवाद, चित्र भेजने सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र आदि के गमनागमन के लिए धर्म द्रव्य की सहायता नितांत आवश्यक है। धर्म द्रव्य के अभाव में ये क्रियायें नहीं हो सकती हैं।

धर्म द्रव्य के साथ वैज्ञानिक जगत् के ईथर कुछ हद तक समान मान सकते हैं परंतु जैन धर्म में जो तथ्य पूर्ण वर्णन है वह वर्णन वैज्ञानिक जगत् के ईथर में नहीं पाया जाता है। ईथर का शोध अभी हुआ है किंतु धर्म द्रव्य का वर्णन जैन धर्म में प्राचीन काल से है।

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगधं असद्दमप्फासं।
लोगागाढ़ं पुट्ठपिहुलमसंख्यादियपदेसं।। 83

स्पर्श, रस, गंध और वर्ण का अत्यंत अभाव होने से धर्मास्तिकाय वास्तव में अमूर्त स्वभाव वाला है और इसलिए अशब्द है समस्त

लोकाकाश में व्याप्त होकर रहने से लोकव्यापक है, अयुतसिद्ध असंयोगी प्रदेश वाला होने से अखंड है, स्वभाव से ही सर्वतः विस्तृत होने से विशाल है, निश्चयनय से एक प्रदेशी (अखंड) होने पर भी व्यवहारनय से असंख्यात् प्रदेशी है।

अगुरूलघुगेहिं सया तेहिं अणतेहिं परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं।। 84

धर्मद्रव्य (धर्मास्तिकाय) अगुरूलघु गुणों के रूप में अर्थात् अगुरूलघुत्व नाम का जो स्वरूप प्रतिष्ठत्व के कारणभूत स्वभाव उसके अविभाग-प्रतिच्छेदों रूप से जो कि प्रतिसमय होने वाली षट्स्थानपतित वृद्धि हानि वाले अनंत हैं उनके रूप से सदैव परिणमित होने से उत्पाद व्यय वाला है, तथापि स्वरूप से च्युत नहीं होता इसलिए नित्य है, गतिक्रियारूप से परणमित होने में जीव पुद्गलों का उदासीन अविनाभावी सहायमात्र होने से गति क्रियापरिणाम का कारणभूत है, अपने अस्तित्वमात्र से निष्पन्न होने के कारण स्वयं अकार्य है।

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहकरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणाहि।। 85

जिस प्रकार पानी स्वयं का गमन न करता हुआ और पर को गमन न कराता हुआ, स्वयमेव गमन करती हुई मछलियों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप के कारणमात्र रूप से गमन में अनुग्रह करता है, उसी प्रकार धर्म (धर्मास्तिकाय) भी स्वयं गमन न करता हुआ और पर को गमन न कराता हुआ, स्वयमेव गमन करते हुए जीव पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप से कारणमात्ररूप से गमन में अनुग्रह करता है (सहायक होता है)।

णय गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि गदिस्स प्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च।। 88

जैसे घोड़ा स्वयं चलता हुआ अपने ऊपर चढ़े हुए सवार के गमन का कारण होता है ऐसा धर्मास्तिकाय नहीं है क्योकि वह क्रियारहित है किंतु जैसे जल स्वयं ठहरा हुआ है तो भी स्वयं अपनी इच्छा से चलती हुई मछलियों के गमन में उदासीपने से निमित्त हो जाता है, वैसे ही धर्म द्रव्य

भी स्वयं ठहरा हुआ अपने ही उपादान कारण से चलते हुए जीव और पुद्गलों को बिना प्रेरणा किए हुए उनके गमन में बाहरी निमित्त हो जाता है। यद्यपि धर्मास्तिकाय उदासीन हो तो भी जीव पुद्गलों की गति में हेतु होता है। जैसे– जल उदासीन है तो भी वह मछलियों के अपने ही उपादान बल से गमन में सहकारी होता है। जैसे स्वयं ठहरते हुए घोड़ों को पृथ्वी व पथिकों को छाया सहायक है वैसे ही अधर्मास्तिकाय स्वयं ठहरा हुआ है तो भी अपने उपादान कारण से ठहरे हुए जीव और पुद्गलों की स्थिति में बाहरी कारण होता है।

स्थिति माध्यम द्रव्य

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई।। 18
स्थानयुतानां अधर्म : पुद्गलजीवानां स्थानसहकारी।
छाया यथा पथिकानां गच्छतां नैव सः धरति।।

As shadow (assists the staying of) the travellers, (so) Adharma assists the staying of the Pudgalas and Jivas which are stateionary, but that (i.e. Adharma) does not hold back moving (Pudgalas and Jivas)

स्थिति सहित जो पुद्गल और जीव है उसकी स्थिति में सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है जैसे पथिकों बटोहियों की स्थिति में छाया सहकारी है गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलों को वह अधर्म द्रव्य नहीं ठहराता है।

गतिशील जीव एवं पुद्गल जब ठहरते हैं तब अथवा ठहरे हुए द्रव्य के लिए जो ठहरने के लिए उदासीन निमित्त सहायक होता है उसे अधर्म द्रव्य स्थिति माध्यम कहते हैं। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य का जितना सूक्ष्म व्यापक वैज्ञानिक विवरण जैनधर्म में है इतना आधुनिक विज्ञान तक में भी नहीं है। भारतीय दर्शन एवं वैदेशिक दर्शन में भी इतना वर्णन मुझे अभी तक अध्ययन करने में नहीं मिला है। इससे भी सिद्ध होता है कि जैन धर्म कितना वैज्ञानिक, अखंड एवं सार्वभौम धर्म है।

जैसे गमन करते हुए पथिक वृक्ष की छाया में बैठता है तब छाया ठहरने

के लिए उदासीन कारण बनती हैं। जैसे रेल को ठहराने के लिए स्टेशन की रेल पटरी सहायक होती है, बैठने के लिए कुर्सी, पाटा, चटाई आदि सहायक होती है किंतु कुर्सी आदि जबरदस्ती मनुष्य को पकड़कर नहीं बैठाती वैसे धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल की गति में सहायक होता है। इसलिए उदासीन शब्द कहा है जो कि महत्व का है।

अधर्म द्रव्य के अभाव से स्थिर रहने रूप क्रिया नहीं हो सकती है इसके अभाव में विश्व में संपूर्ण जीव एवं पुद्गल अनिश्चित एवं अव्यवस्थित रूप से सर्वदा चलायमान ही रहेंगे। टेबल के ऊपर पुस्तक रखने पर दूसरे समय में पुस्तक वहां पर नहीं रहेगी। गाड़ी को रोकने पर भी गाड़ी नहीं रुकेगी कोई भी व्यक्ति कुछ निश्चित समय के लिए एक ही स्थान में खड़ा या बैठा नहीं रह सकता है। यहां तक कि संपूर्ण विश्व यदृच्छाभाव से यत्र-तत्र फैलकर अव्यवस्थित हो जाएगा और वर्तमान में जो विश्व की संगठन, संरचना है, वह नहीं रह सकती है शरीर का जो संगठन है, वह भी फैलकर के विस्फोट होकर यत्र-तत्र बिछुड़ जावेगा।

आधुनिक विज्ञान की अपेक्षा जो केंद्राकर्षण शक्ति Gravitational Force है उसके साथ अधर्म द्रव्य की कुछ सदृश्यता पायी जाती है। परंतु अधर्मद्रव्य की जो सटीक वैज्ञानिक सूक्ष्म परिभाषा है, वह केंद्राकर्षण शक्ति में नहीं है।

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव।। 86

जैसे पहले धर्म द्रव्य के संबंध में कहा था कि वह रस आदि से रहित अमूर्तिक है, नित्य है, अकृत्रिम है, परिणमन शील है व लोकव्यापी है तैसे ही अधर्म द्रव्य को जानना चाहिए। विशेष यह है कि धर्मद्रव्य तो मछलियों के लिए जल की तरह जीव पुद्गलों के गमन में बाहरी सहकारी कारण है। यह अधर्म द्रव्य जैसे पृथिवी स्वयं पहले से ठहरी हुई दूसरों को न ठहराती हुई घोड़े आदि के ठहरने में बाहरी सहकारी कारण है वैसे स्वयं पहले से ही ठहरा हुआ व जीव पुद्गलों को न ठहराता हुआ उनके स्वयं ठहरते हुए उनके ठहरने में सहकारी कारण है।

जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदि।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य।। 87

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य विद्यमान है क्योंकि लोक और अलोक का विभाग अन्यथा नहीं बन सकता। जीवादि सर्व पदार्थों के एकत्र अस्तित्वरूप लोक हैं, शुद्ध एक आकाश से अस्तित्व रुप अलोक है। वहां जीव और पुद्गल स्वरस से ही स्वभाव से ही गतिपरिणाम अथवा गतिपूर्वक स्थिति परिणाम को प्राप्त होते हैं। यदि गतिपरिणाम अथवा गतिपूर्वक स्थिति परिणाम का स्वयं अनुभव परिणमन करने वाले उन जीव पुद्गल को बहिरंग हेतु धर्म और अधर्म न हो, तो जीव पुद्गल के निरंतर गति परिणाम और स्थिति परिणाम होने से अलोक में भी उन जीव पुद्गल का होना किससे निवारा जा सकता है? किसी से नहीं निवारा जा सकता इसलिए लोक और अलोक का विभाग सिद्ध नहीं होगा किंतु यदि जीव पुद्गल की गति के और गतिपूर्वक स्थिति के बहिरंग हेतुओं के रूप में धर्म और अधर्म का सद्भाव स्वीकार किया जाए तो लोक और अलोक का विभाग सिद्ध होता है। इसलिए धर्म और अधर्म विद्यमान है धर्म और अधर्म दोनों परस्पर पृथग्भूत अस्तित्व से निष्पन्न होने से विभक्त भिन्न हैं, एक क्षेत्रवगाही होने से अविभक्त अभिन्न है, समस्त लोक में प्रवर्तमान जीव-पुद्गलों की गति स्थिति में निष्क्रिय रूप से अनुग्रह करते हैं इसलिए लोक प्रमाण है।

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणमेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंतिं।। 89

धर्मद्रव्य कभी अपने गमन हेतुपने को छोड़ता नहीं है वैसे ही अधर्मद्रव्य कभी स्थिति हेतुपने को छोड़ता नहीं हैं यदि ये ही गमन और स्थिति कराने में मुख्य प्रेरक कारण हो जावें तो गति और स्थिति में परस्पर ईर्ष्या हो जावे। जिन द्रव्यों की गति हो वे सदा ही चलते रहे और जिसकी स्थिति हो वे सदा ही ठहरे रहें उनकी कभी गति न हो। ऐसा नही दिखलाई पड़ता है किंतु यह देखा जाता है कि जो गमन करते हैं वे ही ठहरते हैं या जो ठहरे हुए हैं वे ही गमन करते हैं। इसी से सिद्ध है कि ये धर्म और अधर्म मुख्य हेतु नहीं है यदि ये मुख्य हेतु नही है तो जीव और पुद्गलों की कैसे गति और स्थिति होती है।

इसलिए कहते हैं कि वे निश्चय से अपनी ही परिणमन शक्तियों से गति या स्थिति करते हैं। धर्म अधर्म द्रव्य मात्र उदासीन सहायक हैं।

अवकाश प्रदाता द्रव्य

अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं।। 19
अवकाशदानयोग्यं जीवादीनां विजानीहि आकाशम्।
जैनं लोकाकाशं अलोकाकाशं इति द्विविधम्।।

Know that which is capable of allowing space to jiva etc. to be Akasa, According to jainism Lokakasa and alokakasa, thus (Akasa is) of two kinds.

जो जीव आदि द्रव्यों को अवकाश देने वाला है उसको श्री जिनेंद्र द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य जानो। वह लोकाकाश और अलोकाकाश इन भेदों से दो प्रकार है।

जीव का विशेष गुण चैतन्य स्वरूप है तो पुद्गल का विशेष गुण मूर्तिमत्व है। उसी प्रकार धर्म द्रव्य का विशेष गुण गति माध्मय तो, अधर्म द्रव्य का विशेष गुण स्थिति माध्यम है। यहां आचार्य श्री ने क्रम प्राप्त पांचवां नित्य, शुद्ध, सर्वव्यापी, अमूर्तिक एवं विस्तार में महानतम आकाश द्रव्य का विशेष गुण अवगाहनत्व कहा है। अणु से लकेर विश्वरूपी महास्कंध तक सब कुछ आकाश में ही अवकाश, स्थान, अवगाहना प्राप्त करते हैं। अनंतानंत प्रदेशी, सर्वव्यापी विश्व का महानतम द्रव्य, आकाश-अमूर्तिक एवं अखंडित होने के कारण एक ही है। तथापि जिस आकाश के बीचोंबीच 343 घन राजुप्रमाण आकाश में धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल एवं जीव रहते है उसे लोकाकाश कहते हैं उसके बाहर दसों दिशाओं में अनंताअनंत आकाश हैं जिसे अलोकाकाश कहते हैं।

लोकाकाश एवं अलोकाकाश

(विश्व एवं प्रति विश्व)

धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।

आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो। 20

धर्माधर्मौ कालः पुद्गलजीवाः च सन्ति यावतिके।

आकाशे सः लोकः ततः परतः अलोकः उक्तः।।

Lokakasa is that in which Dharma, Adharma, Kala, Pudgala and jiva exist. That which is beyond (this Lokakasa) is called Alokakasa.

धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये पांचों द्रव्य जितने आकाश में हैं, वह तो लोकाकाश है और उस लोकाकाश के आगे अलोकाकाश है।

आचार्य श्री ने 19वीं गाथा में आकाश द्रव्य का सामान्य वर्णन किया था। यहां 20वीं गाथा में उसका विशेष वर्णन है। लोक अलोक का वर्णन जैन धर्म में विशद रूप में पाया जाता है पर अन्य दर्शन में लोक का अपने मतानुसार वर्णन पाए जाने पर भी अलोक का वर्णन नहीं पाया जाता है। आधुनिक विज्ञान में जैन धर्म में जैसा स्पष्ट वर्णन किया गया है, वैसा तो स्पष्ट वर्णन नहीं पाया जाता है फिर भी आईस्टीन के सापेक्ष सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक द्रव्य प्रतिपक्षी होने के कारण विश्व का भी प्रतिपक्षी प्रतिविश्व अलोकाकाश होता है। जैन धर्म के अनुसार विश्व का घनफल 343 घन राजू है, जो कि वैज्ञानिक दृष्टि से अनुमानतः असंख्यात घन आलोक वर्ष के बराबर है। विश्व के मुख्य तीन भेद हैं। 1. अधोलोक (नरकलोक), 2. मध्यलोक 3. ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग)।

अधोलोक में सात नरक एवं नित्य निगोदिया हैं। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। इन द्वीप समुद्रों के साथ-साथ असंख्यात सूर्य, चंद्र, ग्रह नक्षत्र इस मध्यलोक में ही हैं। आधुनिक खगोल विज्ञान के अनुसार असंख्यात सूर्य, चंद्र निहारिकायें हैं यह सिद्ध हो गया है। इस संबंधी विस्तृत वर्णन मैंने मेरी ''विश्व विज्ञान रहस्य'' पुस्तक में किया है। वहां अवलोकनीय है। ऊर्ध्वलोक में स्वर्ग एवं सिद्ध शिला है। विश्व को संपूर्ण दिशा में वेष्टित करके वातवलय है। यह वातवलय भी विश्व के अंतर्गत है। नग्न चक्षु में जो आकाश नीला दिखाई देता है वह आकाश का वर्णन नहीं है क्योंकि आकाश शुद्ध अमूर्तिक द्रव्य है। पृथ्वी से जो आकश नीला

दिखाई देता है उसका वैज्ञानिक कारण पृथ्वी का वातावरण या वायुमंडल है। पृथ्वी के पर्यावरण में धूलिकण, जलकण एवं विभिन्न वायु होती है, जिसके कारण सूर्य किरण इसमें प्रतिफलित होती है, जिसके कारण आकाश नीला दिखाई देता है, इसे वर्ण विश्लेषण कहते हैं। पृथ्वी से कुछ दूर अंतरिक्ष में जाने पर आकाश का वर्ण नीला नहीं दिखाई देता हैं जैन धर्म के अनुसार उपरोक्त कारणों के साथ-साथ प्रथम स्वर्ग का ऋजु विमान नीलमणि से निर्मित है उस नीलमणि की प्रभा से आकाश नीला दिखाई पड़ता है। आकाश का विशेष वर्णन उमास्वामी के अनुसार कुछ निम्नोक्त प्रकार हैं-

आकाशस्यानन्ताः । 9 ।

आकाशस्यानन्ताः प्रदेशाः सन्ति।

The number of pradesas in space is infinite.

आकाश के अनन्त प्रदेश हैं।

छहों द्रव्य में सबसे विशालतम द्रव्य आकाश है। यह द्रव्य सर्वव्यापी है। इसके प्रदेश अनन्त हैं। जिसका अन्त- अवसान नहीं है, उसको अनन्त कहते हैं। लोकाकाश, आकाश का एक बहुत छोटा भाग है और इसके असंख्यात प्रदेश हैं। अलोकाकाश संपूर्ण दिशाओं में अनंत तक फैला हुआ है।

लोकाकाशेऽवगाहः । 12

धर्मादीनाम् द्रव्याणाम् लोकाकाशे अवगाहः ।

These substances Dharma, Adharma, Jiva, Ajiva etc. exist only in Lokakasa.

इन धर्मादिक द्रव्यों का अवगाह लोकाकाश में हैं।

आकाश एक सर्वव्यापी अखंड द्रव्य होते हुए भी जिस आकाश प्रदेश में जीव आदि द्रव्य रहते हैं उसे लोकाकाश कहते हैं उसको छोड़कर अन्य अवशेष आकाश को अलोकाकाश कहते हैं द्रव्य संग्रह में कहा भी है-

धम्माऽधम्मा कालो पुग्गल जीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो।। 20

धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये पांच द्रव्य जितने आकाश में हैं वह तो लोकाकाश है उसके आगे अलोकाकाश है।

प्रश्न– असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश में अनन्तानंत जीव हैं उन से अनन्तगुण पुद्गल हैं। लोकाकाश के प्रदेशों में प्रमाण भिन्न–भिन्न कालाणु हैं तथ एक धर्म और एक अधर्मद्रव्य है ये सब किस तरह इस लोकाकाश में अवकाश पा लेते हैं।

उत्तर– जैसे एक कोठरी में अनेक दीपों का प्रकाश व एक गूढ़नाग रस के गुटके से बहुत सा सुवर्ण व एक ऊंटनी के दूध से भरे घट में मधु का भरा घट व एक तहखाने में जय–जयकार शब्द व घंटा आदि का शब्द विशेष अवगाहना गुण के कारण अवकाश पाते हैं वैसे असंख्यात प्रदेशी लोक में अनन्तानन्त जीवादि भी अवकाश पा सकते हैं।

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य तथा जीव द्रव्य अमूर्तिक द्रव्य होने के कारण उसकी अवगाहना की कोई समस्या नहीं है। शेष रहा पुद्गल द्रव्य। पुद्गल द्रव्य के सूक्ष्मत्व परिणमन शक्ति होने के कारण एवं आकाश में अवगाहन शक्ति होने के कारण अनंत पुद्गल द्रव्य, असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश में समावेश होकर रह जाते हैं। जैसे एक अगरबत्ती को जलाने से उस अगरबत्ती के धुएं से एक कमरा भर जाता है। इस धुएं के पुद्गल स्कंध उस छोटी सी अगरबत्ती में ही समाहित थे। अभी आधुनिक विज्ञान से सिद्ध हुआ कि कुछ नक्षत्र में ऐसी धातु है जिसका माचीस के बराबर टुकड़े का वजन 60 टन से लेकर 250 टन तक हो सकता है। इतना अधिक वजन होने का कारण वहां के परमाणु का बंधन अधिक घन स्वरूप से होना है। वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध किया कि एक हाथी को पूर्ण रूप से दवा दिया जाएगा तब वह हाथी सुई के छेद से निकल जाएगा। इसका कारण यह है कि उस में मौजूद परमाणु समूह एक ही आकाश प्रदेश में अथवा एक परमाणु में एक परमाणु के आकार में अनंतानंत बंध विशेष से बंधकर इकट्ठे हो जाते हैं। इसलिए एक आकाश प्रदेश में एक से लेकर तीन व संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणु समाहित हो सकते हैं। जब एक ही आकाश प्रदेश में अनन्त परमाणु भी रह सकते हैं, तो असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश में अनंतानंत

परमाणु क्यों नहीं रह सकते हैं अर्थात् रह सकते हैं।

धर्मऽधर्मयोः कृत्स्ने। (13)

धर्माऽधर्मायोः कृत्स्ने लोकाकाशे अवगाहो भवति।

The Whole Universe of Loka is place of Dharma and Adharma dravyas.

धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह समग्र लोकाकाश में है।

लोकाकाश के असंख्यात् प्रदेश होते हैं। उस संपूर्ण लोकाकाश के प्रदेश में धर्म और अधर्म द्रव्य के प्रदेश व्याप्त होकर रहते हैं अर्थात् लोकाकाश के एक प्रदेश में धर्म द्रव्य तथा अधर्म द्रव्य का अवस्थान जैसे चौकी के ऊपर पुस्तक है उस प्रकार नहीं है। परंतु जैसे दूध में घी, तिल में तेल, ईंधन में अग्नि रहती है उसी प्रकार धर्म एवं अधर्म द्रव्य के प्रदेश लोकाकाश के संपूर्ण प्रदेश में व्याप्त रहते हैं। आधुनिक विज्ञान में भी माना गया है कि ''ईथर'' तथा गुरुत्वाकर्षण शक्ति आकाश में व्याप्त होकर रहती है। इसलिए निरवशेष व्यप्ति का प्रदर्शन करने के लिए सूत्र में ''कृत्स्न'' वचन का प्रयोग किया है क्योंकि धर्म और अधर्म द्रव्य निरंतर सारे लोकाकाश में व्याप्त होकर रहते हैं।

प्रश्न– धर्म, अधर्म आदि के प्रदेश परस्पर अविरोध रूप से एक स्थान में कैसे रहते हैं?

उत्तर– अमूर्तिक होने से धर्म, अधर्म और आकश में प्रदेश में परस्पर विरोध नहीं है। जब मूर्तिमान जल, भस्म, रेत आदि पदार्थ बिना विरोध के एक स्थान में रह सकते हैं तब इन अमूर्तिक द्रव्यों की एकत्र स्थिति में तो कहना ही क्या? अर्थात्– जैसे पानी से भरे हुए घट में चीनी, रेत, भस्म, लोहे के कांटे आदि प्रवेश कर जाते हैं वैसे ही परस्पर विरोध रहित जीवादि अनन्त पदार्थ लोकाकाश में रह जाते हैं।

इसलिए अमूर्तिक होने से इन धर्मादि में प्रदेशों का परस्पर एक स्थान में रहने में कोई विरोध नहीं है ऐसा जानना चाहिए।

इनका अनादि संबंध पारिणामिक स्वरूप होने से भी कोई विरोध नहीं

है। भेद, संघात, गति, परिणाम पूर्वक आदिमान संबंध वाले किसी स्थूल संबंधों के प्रदेशों में परस्पर विरोध हो भी सकता है अर्थात् बहुत से प्रदेश वाले पदार्थ थोड़े स्थान में नहीं रह सकते परंतु भेद-संघात वाले पदार्थों के समान धर्मादि पदार्थों का आकाश प्रदेशों के साथ आदि संबंध नहीं है, अपितु इनका पारिणामिक संबंध है अतः इनमें परस्पर प्रदेशों का अविरोध सिद्ध है अर्थात् अमूर्तिक पूर्वापर भावरहित अनादि संबंधी धर्मादिक का परस्पर विरोध नहीं है।

निश्चय काल एवं व्यवहार काल

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो। 21
द्रव्यपरिवर्तनरूपःयः सः कालः भवेत् व्यवहारः।
परिणामादिलक्ष्यः वर्त्तनालक्षणः च परमार्थः।।

Vyavahara kala (Time from the ordinery point of view) is that which helps to produce changes in substances and which is known from modifications (produced in substances), while Parmarthika (i.e. real) kala is understood from continuity.

जो द्रव्यों के परिवर्तनरूप, परिणाम देखा जता है वह तो व्यवहारकाल है और वर्तना लक्षण का धारक जो काल है वह निश्चयकाल है।

स्वतंत्रता के सूत्र/मोक्ष शास्त्र में भी कहा है-

वर्त्तना परिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य। 22 पृ.स. 304
वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च जीवानाम्
पुद्गलानाम् कालस्य उपकारो भवति।

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार हैं।

विश्व में जड़-चेतन में, मूर्तिक-अमूर्तिक में, जो सूक्ष्म-स्थूल, शुद्ध-अशुद्ध परिणमन (परिवर्तन) होता है वह परिणाम दो कारण से होता है 1. उपादान कारण, 2. निमित्त कारण। उपादान कारण को मुख्य कारण

स्व कारण एवं निमित्त कारण को गौण बाह्य कारण कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में परिणमन शक्ति (अगुरूलघुत्व गुण) होती है जो कि परिणमन के लिए मुख्य कारण है। इस मुख्य कारण को सहायता पहुंचाने वाला गौण कारण है। जैसे–कुम्हार का चक्र नीचे के पत्थर के आधार पर परिभ्रमण करता है। इस परिभ्रमण में चक्र की स्वयोग्यता मुख्य कारण है और नीचे का पत्थर गौण कारण है। इसी प्रकार का द्रव्य परिणमन में स्वयोग्यता मुख्य कारण और काल द्रव्य गौण कारण है। इसलिए इस सूत्र में वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व काल द्रव्य के उपकार कहा है।

1. वर्तना – धर्मादिक द्रव्य अपनी नवीन पर्याय के उत्पन्न करने में स्वयं प्रवृत्त होते हैं और तो भी बाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं हो सकती है इसलिए उसे प्रवर्त्ताने वाला काल कहा है। यही ''वर्तना लक्षण'' काल द्रव्य का उपकार है।

2. परिणाम – एक धर्म की निवृत्ति करके दूसरे धर्म के पैदा करने रूप और परिस्पन्द से रहित द्रव्य की जो पर्याय है उसे परिणाम कहते हैं।

3. क्रिया – द्रव्य में जो परिस्पन्द रूप परिणमन होता है उसे क्रिया कहते हैं। इसके दो भेद हैं 1. प्रायोगिक 2. वैस्रसिक। उनमें से गाड़ी आदि की प्रायोगिक क्रिया है और मेघादिक वैस्रसिकी।

4. परत्वापरत्व– परत्व और अपरत्व दो प्रकार का है। 1. क्षेत्र कृत 2. कालकृत। प्रकृत (यहां पर) में कालकृत उपकार का प्रकरण है इसलिए कालकृत परत्व और अपरत्व को यहां ग्रहण किया गया है। ये सब वर्तनादिक काल अस्तित्व का ज्ञान कराते हैं।

कालद्रव्य का लक्षणः –

स कालो यन्निमित्ता स्युः परिणामादिवृत्तयः।
वर्तनालक्षणं तस्य कथयन्ति विपश्चितः।। 40

काल वह कहलता है जिसके निमित्त से परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व होते हैं। विद्वान लोग वर्तना को काल का लक्षण कहते हैं।

वर्तना का लक्षण :–

अन्तर्नीतैकसमया प्रतिद्रव्यविपर्ययम्।
अनुभूतिः स्वसत्तायाः स्मृता सा खलु वर्तना।। 41

प्रत्येक द्रव्य के एक-एक समयवर्ती परिणमन में जो स्वसत्ता की अनुभूति होती है उसे वर्तना कहते हैं।

काल द्रव्य की हेतुकर्तृता का वर्णनः-

आत्मना वर्तमाननां द्रव्याणां निजपर्ययैः।
वर्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम्।। 42

सब द्रव्य, अपनी अपनी पर्यायरूप परिणमन स्वयं करता है फिर भी वर्तना का कारण होने से कालद्रव्य हेतुकर्तृता को प्राप्त होता है।

कालद्रव्य की हेतुकर्तृता का समर्थनः-

न चास्य हेतुकर्तृत्त्वं निः क्रियस्य विरुध्यते।
यतो निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृत्वमिष्यते।। 43

यद्यपि काल द्रव्य स्वयं निष्क्रिय है तथापि इसकी हेतुकर्तृता विरुद्ध नहीं है क्योंकि निमित्त मात्र में भी हेतुकर्तृता मानी जाती है।

व्यवहारकाल के परिचायक लिङ्गः-

व्यावहारिककालस्य परिणामस्तथा क्रिया।
परत्वं चापरत्वं च लिङ्गान्याहुर्महर्षयः।। 45

परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्त्व को महर्षियों ने व्यावहारिक काल का लिङ्ग परिचायक चिन्ह कहा है।

स्वजातेरविरोधेन विकारो यो हि वस्तुनः।
परिणामः स निर्दिष्टोऽपरिस्पन्दात्मको जिनैः।। 46

अपनी जाति का विरोध न करते हुए वस्तु का जो विकार है,- परिणमन है उसे जिनेंद्र भगवान ने परिणाम कहा है। यह परिणाम हलन चलनरूप नहीं होता।

क्रिया का लक्षणः

प्रयोगविस्रसाभ्यां या निमित्ताभ्यां प्रजायते।
द्रव्यस्य सा परिज्ञेया परिस्पन्दात्मिका क्रिया।। 47

प्रेरणा और स्वभाव इन दो निमित्तों से द्रव्य में जो हलन चलनरूप परिणति होती है उसे क्रिया जानना चाहिए।

परत्व और अपरत्व का लक्षणः

परत्वं विप्रकृष्टत्वमितरत्सन्निकृष्टता।
ते च कालकृते ग्राह्योकालप्रकरणादिह।। 48

दूरी को परत्व और निकटता को अपरत्व कहते हैं। यहां काल द्रव्य का प्रकरण होने से दूरी और निकटता ही ग्रहण करना चाहिए।

काल शब्द का प्रयोग प्रायः भारतीय दर्शन के साथ-साथ वैदेशिक अनेक दर्शन में भी पाया जाता है। भारत में तो प्राचीन काल में कालवाद नामक दर्शन इसी पर ही टिका हुआ था। आधुनिक महान वैज्ञानिक आईंस्टीन ने जो चतुःआयाम सिद्धांत का वर्णन किया है उसमें भी काल का वर्णन पाया जाता है। चतुःआयाम सिद्धांत के अनुसार 1. आकाश 2. काल 3. मात्रा और 4. ऊर्जा या गति। तथापि जैन धर्म में जितना वैज्ञानिक व्यापक वर्णन पाया जाता है वैसा वर्णन अन्यत्र नहीं पाया जाता है। यहां तक कि जैन श्वेताम्बर की परंपरा में कुछ आचार्य काल द्रव्य को मानते हैं तो कुछ आचार्य काल द्रव्य को नहीं मानते हैं किंतु काल द्रव्य की पर्याय को ही मानते हैं। ''सभाष्य तत्वार्थाधिगम'' सूत्र में इनके लिए एक सूत्र आया है, जिससे उपरोक्त विषय की पुष्टि होती है।

कालश्चेत्येक । (38) (पृ.294)

एके त्वाचार्य व्याचक्षते कालोऽपि द्रव्यमिति।
कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि काल भी द्रव्य है।

जहाँ द्रव्य नहीं है वहां उसकी शुद्ध-अशुद्ध व्यंजन पर्याय नहीं हो सकती है यदि निश्चय काल द्रव्य नहीं है तो उसकी पर्याय घड़ी, घंटा,दिन अयन, ऋतु भी नहीं हो सकती है।

कदाचित् कहो कि समय काल का पर्याय कैसे है? तो उत्तर यह है कि पर्याय जो है सो ''समओ उप्पणपद्धंसी'' इस आगमोक्त वाक्य के अनुसार उत्पन्न होता है और नाशा को प्राप्त होता है और वह पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होता और यदि फिर समय को ही काल मान लो तो उस समय रुप पर्याय काल का उपादान कारण भूत जो द्रव्य है उसको भी कालरूप ही होना चाहिए। क्योंकि जैसे ईंधन अग्नि आदि सहकारी कारण से उत्पन्न ओदन पर्याय (पके चावल) का उपादानकारण चावल ही होता है, अथवा कुम्भकार, चाक, चीवर आदि बहिरंग निमित्त कारणों से उत्पन्न जो मृत्तिकादि रूप पर्याय है उसका उपादान कारण मृत्तिका का पिण्ड ही है, वा नर नारक आदि जो जीव की पर्याय है उनका उपादान कारण जीव ही है, ऐसे ही समय घटिका आदि रूप काल का भी उपादान कारण काल ही होना चाहिए। यह नियत भी क्यों माना गया है कि ''अपने उपादान कारण के समान ही कार्य होता'' ऐसा वचन है। अब कदाचित् तुम्हारा ऐसा मत हो कि ''समय'' घटिका आदि कालपर्यायों का उपादान कारण काल द्रव्य नहीं किंतु समय रूप काल पर्याय की उत्पत्ति में मंदगति में परिणत पुद्‌गल परमाणु उपादान कारण है तथा निमेषरूप काल पर्याय की उत्पत्ति में नेत्रों के पुटों का विघटन अर्थात् पलक का गिरना-उठना उपादान कारक है ऐसे ही घटिका रूप काल पर्याय की उत्पत्ति में घटिका रूप काल पर्याय की उत्पत्ति में घटिका की सामग्री रूप जो जल का भाजन और पुरुष के हस्त आदि का व्यापार है वह उपादान कारण है और दिन रूप कालपर्याय की उत्पत्ति सूर्य का बिंब उपादान कारण होता है इत्यादि, सो यह मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, जैसे तन्दुल चावल रूप उपादान कारण से उत्पन्न जो ओदन भात पर्याय है उसके निज उपादान कारण में प्राप्त गुणों के समान ही शुक्ल, कृष्ण आदि वर्ण, अच्छी व बुरी गंध, चिकना अथवा रुखा आदि स्पर्श मधुर आदि रस, इत्यादि विशेष गुण दीख पड़ते हैं, वैसे ही पुद्‌गल परमाणु, नयनपुट-विघटन जलभोजन, पुरुषव्यापार आदि तथा सूर्य का बिंब इन रूप जो उपादान भूत पुद्‌गल पर्याय है उनसे उत्पन्न हुए समय, निमिष, घटिका, दिन आदि जो काल पर्याय है, उनको भी शुक्ल-कृष्ण आदि गुण प्राप्त होते हैं, परंतु समय घटिका आदि में उपादान कारणों

के कोई गुण नहीं दिख पड़ते क्योंकि उपादान कारण के समान कार्य होता है ऐसा वचन है। अब यहां अधिक कहना व्यर्थ है। जो आदि तथा अंत से रहित है, अमूर्त है, नित्य है, समय आदि का उपादान कारणभूत है तो भी समय आदि भेदों से रहित है, और कालाणुद्रव्य रूप है वह तो निश्चयकाल है और जो आदि तथा अंत से सहित है, समय घटिका तथा प्रहर आदि विवक्षित व्यवहार के विकल्पों से युक्त है, वह उसी द्रव्यकाल का पर्याय भूत व्यवहारनय काल है।

निश्चय काल का क्षेत्र एवं उसकी संख्या

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का।
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि।। 22
लोकाकाशप्रदेश एकैकस्मिन् ये स्थिताः हि एकैकाः।
रत्नानां राशिः इव ते कालाणवः असंख्यद्रव्याणि।।

Those innumerable substances which exist one by one in each Pardesa of Lokakasa, like heaps of jewels, are points of time.

जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित हैं वे कालाणु हैं और असंख्यात द्रव्य हैं।

आचार्य श्री ने इस गाथा में निश्चय काल का क्षेत्र एवं संख्या का वर्णन किया है। कालद्रव्य अमूर्तिक, शाश्वतिक शुद्ध होने से परस्पर मिलें होने पर भी/स्पर्श करके स्थित होने पर भी परस्पर बंध को प्राप्त नहीं होते या मिलते नहीं क्योंकि अमूर्तिक होने के कारण स्निग्ध, रुक्षत्व गुण नहीं है और एक प्रदेश-प्रदेश में एक-एक काल द्रव्य स्थित है इसलिए कालद्रव्य भी असंख्यात हो जाते हैं। कहा भी है

एकैकवृत्त्या प्रत्येकमणवस्तस्य निष्क्रियाः।
लोकाकाशप्रदेशेषु रत्नराशिरिव स्थिताः।। 44

उस कालद्रव्य के क्रिया रहित प्रत्येक परमाणु रत्नों की राशि के समान

लोकाकाश के प्रदेशों पर एक-एक स्थित है।

काल अमूर्तिक द्रव्य होने के कारण इसकी सिद्धिकष्ट साध्य है इसलिए कालद्रव्य को अनेक दार्शनिक न जानते है न मानते हैं परंतु जैन धर्म में जो द्रव्य की परिभाषा दी गयी है इस द्रव्य की परिभाषा के अनुसार काल भी परिभाषित होता है इसलिए काल भी द्रव्य है। द्रव्य की विभिन्न परिभाषाओं में से '1. सद् द्रव्य लक्षणम्' द्रव्य का लक्षण सत् है, '2. उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्तं सत्' उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त सत् होता है, 3. 'गुणपर्ययवद्,द्रव्यम्' गुण और पर्याय वाला द्रव्य है ये कुछ मुख्य परिभाषाएं हैं। इन परिभाषाओं के अनुसार काल ही एक द्रव्य होता है। उसी प्रकार कालाणु के भी मंद गति में परिणत पुद्गलपरमाणु द्वारा प्रकट किए हुए और कालाणु रूप उपादान कारण से उत्पन्न हुए ऐसे वर्तमान समय का उत्पाद है वही अतीत गए हुए समय की अपेक्षा उसका विनाश है और उन वर्तमान तथा अतीत दोनों समयों का आधारभूत कालद्रव्यपने से ध्रौव्य है। ऐसे उत्पाद, व्यय तथा घ्रौव्य रूप लक्षण का धारक कालद्रव्य की सिद्धि है।

शंका – ''लोक के बाह्य भाग में कालाणु द्रव्य के अभाव से अलोकाकाश में परिणमन कैसे हो सकता है?

समाधान – आकाश अखंड द्रव्य है इसलिए जैसे चाक के एक देश में विद्यमान दंड की प्रेरणा से संपूर्ण कुम्भकार के चाक का परिभ्रमण हो जाता है, उस तरह से अथवा एक जैसे देश में प्रिय ऐसे स्पर्शन इन्द्रिय के विषय का अनुभव करने से समस्त शरीर में सुख का अनुभव होता है उस प्रकार लोक के मध्य में जो कालाणुद्रव्य को धारण करने वाला एकदेश आकाश है, उससे भी सर्व आकाश में परिणमन होता है।

शंका – जैसे कालद्रव्य, जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों के परिणमन में सहकारी कारण है, वैसे ही कालद्रव्य के परिणमन में कौन सहकारी है?

समाधान – जैसे आकाश द्रव्य संपूर्ण द्रव्यों का आधार है और अपना आधार भी आप ही है, इसी प्रकार काल द्रव्य भी अन्य सब द्रव्यों के परिणमन में और अपने परिणमन में भी सहकारी कारण है।

शंका – कालद्रव्य अपना तो उपादान कारण है और परिणमन का सहकारी कारण है, वैसे ही जीव आदि सब द्रव्यों को अपने उपादान कारण

और परिणति के सहकारी कारण मानो। उन जीव आदि के परिणमन के कालद्रव्य से क्या प्रयोजन है?

समाधान – ऐसा नहीं। क्योंकि यदि अपने से भिन्न बहिरंग सहकारी कारण से प्रयोजन नहीं है, तो सब द्रव्यों में साधारण रूप समानता से विद्यमान जो गति, स्थिति तथा अवगाहन है उनके विषय में सहकारी कारण भूत जो धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्य हैं उनसे कोई प्रयोजन नही है और भी काल का तो घटिका (घड़ी) दिन आदि कार्य प्रत्यक्ष से दीख पड़ता है और धर्म द्रव्य आदि का कार्य तो केवल आगम (शास्त्र) के कथन से ही माना जाता है, उनका कोई कार्य प्रत्यक्ष में नही दिख पड़ता। इसलिए, जैसे कालद्रव्य का अभाव मानते हो उसी प्रकार उन धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्यों का भी अभाव अवश्य प्राप्त होता है और जब इन काल आदि चारों का अभाव लोगे तो जीव तथा पुद्गल ये दो ही द्रव्य रह जायेंगे। और दो द्रव्यों के मानने पर आगम से विरोध होगा और सब द्रव्यों के परिणमन में सहकार होना यह केवल काल द्रव्य का ही गुण है। जैसे घ्राण इन्द्रिय (नासिका) से रस का आस्वाद नहीं हो सकता, ऐसे ही अन्य द्रव्य का गुण भी अन्य द्रव्य के करने में नही आता। क्योंकि, ऐसा मानने से द्रव्य संकर दोष का प्रसंग होगा अर्थात् अन्य द्रव्य का लक्षण अन्य द्रव्य में चला जाएगा, जो कि सर्वथा अनुचित है।

शंका – जितने काल में एक आकाश के प्रदेश को परमाणु अतिक्रम करता है अर्थात् एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करता है उतने काल का नाम समय होता है यह शास्त्र में कहा है। और इस हिसाब से चौदह रज्जुगमन करने में जितने आकाश के प्रदेश हैं उतने ही समय लगने चाहिए, परंतु शास्त्र में यह भी है कि पुद्‌गल परमाणु एक समय में चौदह रज्जुपर्यन्त गमन करता है सो यह कथन कैसे संभव हो सकता है?

समाधान– आगम में जो परमाणु का एक समय में एक आकाश के प्रदेश में गमन करना कहा है सो तो मंद गमन की अपेक्षा से है और जो परमाणु का एक समय में चौदह रज्जु का गमन कहा है वह शीघ्र गमन की अपेक्षा से है। इस कारण परमाणु को शीघ्रगति से चौदह रज्जु प्रमाण गमन

करने में भी एक ही समय लगता है।

जैसे जो देवदत्त मन्द गमन (धीमी चाल) से सौ यौजन सौ दिन में जाता है, वही देवदत्त विद्या के प्रभाव से शीघ्र गमन आदि करके सौ यौजन एक दिन में भी जाता है तो क्या उस देवदत्त को शीघ्र गति से सौ यौजन गमन करने में सौ दिन लगेंगे? एक ही दिन लगेगा। इस प्रकार शीघ्र गति से चौदह रज्जु गमन करने में भी परमाणु को एक ही समय लगता है।

वृ. द्रव्य संग्रह, पृ. 50

कालश्च (39)

Time is also a substance.

काल भी द्रव्य है।

कालो त्ति य ववएसो, सब्भावपरुवओ हवदि णिच्चो।
उप्पण्णपद्धंसी, अवरो दीहंतरट्ठाई।। 580 गो0 पृ. 263

काल यह व्यपदेश संज्ञा मुख्यकाल का बोधक है, निश्चय काल द्रव्य के अस्तित्व को सूचित करता है क्योंकि बिना मुख्य के गौण अथवा व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह मुख्य काल द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नित्य है तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है तथा व्यवहार काल वर्तमान की अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है और भूत भविष्यत की अपेक्षा दीर्घान्तरस्थायी है।

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासा य।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोत्ति।। 24

पंचा, पृ. 87

जो पांच वर्ण, पांच रस से रहित है व जो दो गंध व आठ स्पर्श से रहित है, अगुरुलघु गुण के द्वार षट् गुणी वृद्धि सहित है, अमूर्तिक ऐसा यह कालद्रव्य हैं

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो।। 100

समय,निमिष, घड़ी, दिन आदि को व्यवहार काल कहते हैं। जब एक

पुद्गल का परमाणु एक कालाणु से निकटवर्ती कालाणु पर मंदगति से उल्लंघकर जाता है तब समय नाम का सबसे सूक्ष्म व्यवहार काल प्रगट होता है अर्थात् इतनी देर को समय कहते हैं। आंखों की पलक लगाने से निमिष, जल के बर्तन, हाथ में विज्ञानि आदि पुरुष की चेष्टा से एक घड़ी तथा सूर्य के बिम्ब के आने से दिन प्रगट होता है। इत्यादि रूप से पुद्गल द्रव्य की हलन-चलन रूप पर्याय को ''परिणाम'' कहते हैं। उससे जो प्रगट होता है इसलिए व्यवहारकाल कालाणुरूप निश्चय काल की पर्याय है। एक अणु का दूसरे अणु को उल्लंघन कर मंदगति से जाना आदि पूर्वोक्त पुद्गल का परिणाम है- जैसे शीतकाल में विद्यार्थी को अग्नि पढ़ने में सहकारी है तथा जैसे- कुम्हार के चाक के भ्रमण में नीचे की शिला सहकारी है वैसे बाहरी सहकारी कारण कालाणुरूप द्रव्यकाल के द्वारा उत्पन्न होता है इसलिए परिणमन को द्रव्यकाल से उत्पन्न हुआ कहते हैं। व्यवहाल काल पुद्गलों के परिणमन से उत्पन्न होता है। इसलिए परिणामजन्य है तथा निश्चयकाल परिणामों को उत्पन्न करने वाला है इसलिए परिणामजनक है तथा समय रूप सबसे सूक्ष्म व्यवहार काल क्षणभंगुर है तथा अपने ही गुण और पर्यायों का आधार रूप होने से निश्चय कालद्रव्य नित्य है।

कालो त्तियववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई।। 101

''काल'' जो शब्द जगत में दो अक्षरों का प्रसिद्ध है सो अपने ''वाच्य'' को जो निश्चय काल सत्तारूप, उसको बताता है, जैसे ''सिंह'' शब्द ''सिंह'' के रूप को तथा ''सर्वज्ञ'' शब्द सर्वज्ञ के स्वरूप को बताता है। ऐसा अपने स्वरूप को बताने वाला निश्चय कालद्रव्य यद्यपि दो अक्षर रूप से तो नित्य नहीं है तथापि काल शब्दसे कहने योग्य होने से नित्य है, ऐसा निश्यकाल जानने योग्य है। व्यवहार काल वर्तमान एक समय की अपेक्षा उत्पन्न होकर नाश होने वाला है, क्षण-क्षण में विनाशीक तो भी पूर्व और आगे के समयों की संतान की अपेक्षा से व्यवहार नय से आवली, पल्य, सागर आदि रूप से दीर्घकाल तक रहने वाला भी है। इसमें कोई दोष नहीं है।इस तरह निश्चयकाल नित्य है, व्यवहार काल अनित्य

है, ऐसा जानने योग्य है अथवा दूसरे प्रकार से निश्चय और व्यवहार काल का स्वरूप कहते हैं- जो अनादि अनंत है, समय आदि की कल्पना या भेद से रहित है, वर्णादि रहित अमूर्तिक है व कालाणु द्रव्यरूप से आकाश में स्थित है सो निश्चयकाल है, वह ही कालाणुद्रव्य की पर्यायरूप सादिसांत समयरूप सूक्ष्यपर्याय व समयों के समुदाय की अपेक्षा निमिष, घड़ी आदि कोई भी माना हुआ भेदरूप काल का नाम सो व्यवहार काल है।

एदे कालागासा धम्मा-धम्मा पुग्गला जीवा।
लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं। 102

जिस प्रकार वास्तव में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य के समस्त लक्षणों का सद्भाव होने से ''द्रव्य'' संज्ञा को प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार काल भी द्रव्य के समस्त लक्षणों का सद्भाव होने से ''द्रव्य'' संज्ञा को प्राप्त करता है। इस प्रकार छह द्रव्य हैं। किंतु जिस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश का द्वि-आदि प्रदेश जिसका लक्षण है ऐसा अस्तिकायपना है,उसी प्रकार कालाणुओं का यद्यपि उनकी संख्या लोकाकाश के प्रदेशों जितनी है तथापि एक प्रदेशीपने के कारण अस्तिकायपना नहीं है। इसी ही कारण यहां पंचास्तिकाय के प्रकरण में मुख्यतः काल का कथन नहीं किया गया है, परंतु जीव-पुद्गलों के परिणाम द्वारा ज्ञान होता है, ऐसी उसकी पर्याय होने से तथा जीव पुद्गल के परिणाम की अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा जिसका अनुमान होता है इस वह काल द्रव्य होने से, उसे यहां अन्तर्भूत किया गया है।

सोऽनन्तसमय : | 40

That time has infinite samayas.

वह अनन्त समय वाला है।

यद्यपि वर्तमान काल एक समय वाला है तो भी अतीत और अनागत अनंत समय है ऐसा मानकर काल को अनन्त समयवाला कहा है- अथवा मुख्य काल का निश्चय करने के लिए यह सूत्र कहा है। तात्पर्य यह है कि अनंत पर्यायें वर्तना गुण के निमित्त से होती है इसलिए एक कालाणु को

भी उपचार से अनंत कहा है। परंतु समय अत्यंत सूक्ष्म कालांश है और उसके समुदाय को आवलि मुहूर्त घड़ी, घंटा, दिन, रात जानना चाहिए।

ववहारो पुण तिविहो, तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु।
तीदो संखेज्जावलिहदासिद्धाणं पमाणं तु ।। 578

गो.जी.

व्यवहार काल के तीन भेद हैं, भूत, वर्तमान, भविष्यत्। इनमें से सिद्ध राशि का संख्यात आवलि के प्रमाण से गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतना ही अतीत अर्थात् भूतकाल का प्रमाण है।

समओ हु वटट्माणो, जीवादो सव्वपुग्गलादो वि।
भावी अणंतगुणिदो, इदि ववहारो हवे कालो।। 579

वर्तमान काल का प्रमाण एक समय है। संपूर्ण जीवराशि तथा समस्त पुद्गल द्रव्य राशि से भी अनंतगुणा भविष्यत् कालका प्रमाण है। इस प्रकार व्यवहार काल के तीन भेद हैं।

समओ णिमिसो कट्ठा कला या णाली तदो दिवारत्ती।
मासोदुअयणसंवच्छरोत्ति कालो परायत्तो। 25

पंचास्तिकाय।

समय, निमेष, काष्ठा, कला नाली, घड़ी, अहोरात्र (दिवस, रात) मास, ऋतु, अयन और वर्ष ऐसा जो काल (अर्थात् व्यवहारकाल) वह पराश्रित है।

अस्तिकाय एवं अनास्ति काय

एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं।
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु।। 23
एवं षड्भेदं इदं जीवाजीवप्रभेदतः द्रव्यम्।
उक्त कालवियुक्तं ज्ञातव्या, पञ्च अस्तिकायाः तु।।

In this manner this Dravya is said to be of six kinds, according to the Subdivisions of Jiva ans Ajiya. The five without kala, should be understood to be Astikayas.

इस प्रकार एक जीव द्रव्य और पांच अजीव द्रव्य ऐसे छह प्रकार के

द्रव्य का निरुपण किया। इन छहों द्रव्यों में से एक काल के बिना शेष पांच अस्तिकाय जानने चाहिए।

22 गाथा तक आचार्य श्री ने सामान्य रूप से छहों द्रव्यों का अलग-अलग बहुत ही गूढ़ एवं वैज्ञानिक प्रणाली से संक्षिप्त वर्णन किया है। इस गाथा में छहों द्रव्यों में जो विशेषता है, उसका वर्णन है। सत् रूप से द्रव्य एक है क्योंकि सब सत्-सत् स्वरूप है। जीव एवं अजीव भेद से द्रव्य के दो भेद हैं। जीव के संसारी एवं मुक्त की अपेक्षा दो भेद है। अजीव के 1. धर्म, 2. अधर्म, 3. आकाश, 4. काल, 5. पुद्गल रूप से पांच भेद हैं। अस्तिकाय एवं अनिस्तकाय रूप से अजीव के दो भेद हैं। अस्तिकाय के पांच भेद हैं यथा- 1. जीवास्तिकाय, 2. पुद्गलास्तिकाय, 3. धर्मास्तिकाय, 4. अधर्मास्तिकाय, 5. आकाशास्तिकाय। काल द्रव्य अनास्तिकाय है। रूपी और अरूपी से भी संपूर्ण द्रव्य के दो भेद हो जाते हैं। पुद्गल द्रव्य रूपी है तथा अवशेष 1. जीव, 2. धर्म, 3. अधर्म, 4. आकाश, 5. काल अरूपी है।

अस्तित्व एवं काय की परिभाषा

संति जदो तेणेदे अत्थीत्ति भणंति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काय य अत्थिकायाय। 24
सन्ति यतः तेन एते अस्ति इति भणंति जिनवराः यस्मात्।
काया इव बहुदेशाः तस्मात् कायाः च अस्तिकायाः च।।

As these exist, they are called "Asti by the great Jinas and because (they have) many Pradesas, like bodies there fore (they are called) kayas. (Hence these are called Astikayas.)

पूर्वोक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पांचों द्रव्य विद्यमान हैं इसलिए जिनेश्वर इनको 'अस्ति' हैं ऐसा कहते हैं और ये काय के समान बहु प्रदेशों को धारण करते हैं इसलिए इनको ''काय'' कहते हैं। अस्ति तथा काय दोनों को मिलाने से ये पांचों अस्तिकाय होते हैं।

23 नं. गाथा में जो अस्तिकाय एवं अनास्तिकाय का वर्णन किया गया था उसका वर्णन इस गाथा में किया गया है। काय का अर्थ बहुप्रदेशी है।

अस्ति का अर्थ होना भागवान्/अस्तिवान/विद्यमान/वर्तमान/उपलब्ध/स्थितिवान आदि है। इसलिए अस्तिकाय का अर्थ हुआ अस्ति+काय जो अस्तित्ववान होकर भी बहुप्रदेशी है। धनंजय नाममाला के अनुसार काय का व्युत्पत्ति अर्थ 'चीयते इति कायः' जो चयन करे/ संग्रह करे उसे काय कहते हैं। इस परिभाषानुसार धर्मादि पांच द्रव्य काय है क्योंकि वे अनेक प्रदेशों का चयन/संग्रह करते हैं अर्थात् अनेक प्रदेशवान हैं।

अब इन पांचों के संज्ञा, लक्षण, तथा प्रयोजन आदि ये यद्यपि परस्पर भेद है तथापि अस्तित्व के साथ ही अभेद है यह दर्शाते हैं। जैसे शुद्ध जीवास्तिकाय में सिद्धत्व लक्षण शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय है, केवल ज्ञान आदि विशेष गुण है, तथापि अस्तित्व वस्तुत्व और अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं और जैसे मुक्तिदशा में अव्याबाध अर्थात् बाधारहित अनंत सुख आदि अनंत गुणों की व्यक्ति प्रकटता रूप कार्य समय सार का उत्पाद, राग, आदि विभावों से शून्य परम स्वस्थ्य स्वरूप कारण समय सार का व्यय नाश और इन दोनों के अर्थात् उत्पाद तथा व्यय के आधारभूत परमात्मरूप जो द्रव्य है उस रूप से ध्रौव्य स्थिरत्व है। इस प्रकार पूर्वकथित लक्षणयुक्त गुण तथा पर्यायों से और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य के साथ मुक्त अवस्था में संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी सत्तारूप से और प्रदेशरूप से किसी का किसी के साथ भेद नहीं है। क्योंकि जीवों की मुक्ति अवस्था में गुण, द्रव्य तथा पर्यायों की और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यरूप लक्षणों की विद्यमानता (सत्ता) सिद्ध होती है और गुण, पर्याय उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य की सत्ता के अस्तित्व को मुक्त आत्मा जो है वह सिद्ध करता है। इस प्रकार गुण पर्याय आदि मुक्त आत्मा गुण पर्याय की सत्ता को परस्पर सिद्ध करते हैं। अब इनके कायत्व का निरूपण करते हैं, बहुत से प्रदेशों में व्याप्त होके स्थिति को देख के जैसे शरीर को कायत्व कहते हैं अर्थात् जैसे शरीर में अधिक प्रदेश होने से शरीर को काय कहते है। उसी प्रकार अनंत ज्ञान आदि गुणों के आधारभूत जो लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेश है उनके समूह, संघात तथा मेल को देखके, मुक्त जीव में भी कायत्व का व्यवहार अथवा कथन होता है। जैसे शुद्ध गुण, पर्यायों से तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण से रहित

रहने वाले मुक्त आत्मा के निश्चय नय से सत्तारूप से अभेद दर्शाया गया है, ऐसे ही संसारी जीवों में तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों में भी यथा संभव परस्पर अभेद देख लेना चाहिए और कालद्रव्य को छोड़कर अन्य सब द्रव्यों के कायत्व रूप से भी अभेद हैं।

द्रव्यों की प्रदेश संख्या

होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे।
मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ।। 25
भवन्ति असंख्याः जीवे धर्माधर्मयोः अनन्ताः आकाशे।
मूर्त्ते त्रिविधाः प्रदेशाः कालस्य एकः न तेन सः कायः ।।

In Jiva and in Dharma and Adharma, the Pradesas are Innumerable, in Akasa (The Pradesas are) infinite and in that which has form (viz, Pudgala) (these are) of three kinds, (viz, numerable, innumerable and infinite). Kala (Time) has one (Pradesha). Therefore, it is not (called) Kaya.

जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं और आकाश में अनंत है। मूर्त पुद्गल में संख्यात, असंख्यात तथा अनंत प्रदेश हैं और काल के एक ही प्रदेश हैं इसलिए काल काय नहीं है।

गाथा 23 में अस्तिकाय एवं अनस्तिकाय का निर्देश किया गया एवं 24 में दोनों की परिभाषा ही दी गयी है। परंतु यह नहीं बताया गया था कि कौन से द्रव्य के कितने प्रदेश हैं। इस गाथा में प्रत्येक द्रव्य की प्रदेश संख्याओं का वर्णन किया गया है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी द्रव्यों में प्रदेश संख्या इसी प्रकार बतायी गयी है। यथा–

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैक जीवानाम्। 8
धर्म, अधर्म, एक जीवानाम संख्येयाः प्रदेशा भवन्ति।

There are countless space-points in the medium of motion, medium of rest and in each individual soul.

धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात प्रदेश हैं।

धर्म, अधर्म और जीव स्वतंत्र-स्वतंत्र रूप से एक-एक अखंड द्रव्य होते हुए भी उनके प्रदेश असंख्यात-असंख्यात हैं। धर्म द्रव्य के असंख्यात, अधर्म द्रव्य के असंख्यात और एक जीव के भी असंख्यात प्रदेश हैं।

संख्या को जिस गणना ने अतिक्रांत कर लिया है, उसे असंख्यात कहते हैं अर्थात् जो गिनती की सीमा को पार कर गये हैं अथवा जो किसी सामान्य असर्वज्ञ के द्वारा गिने नहीं जाते हैं उनको असंख्यात कहते हैं। यहां सर्वप्रथम जान लेना चाहिए प्रदेश किसे कहते हैं क्योंकि यहां प्रदेश गणना के लिए इकाई एक प्रदेश है।

प्रदेश की परिभाषा निम्न प्रकार है-

जावदियं आयासं अविभागी पुग्गालाणुवड्डध्दं तं खु पदेसं।

जितना आकाश अविभागी पुद्गल परमाणु से रोका जाता है उसको प्रदेश कहते हैं। राजवार्तिक में कहा है ''प्रदिश्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति प्रदेशाः''

जो क्षेत्र के परिणाम को बताते हैं उसे प्रदेश कहते हैं।

''द्रव्यपरमाणुः स यावति क्षेत्रेऽवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्वियते''

द्रव्य परमाणु जितने क्षेत्र में रहता है, उसको प्रदेश कहते हैं कुंदकुंद देव ने प्रवचन सार में कहा भी है-

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणु तेण पदेसुब्भवो भणिदो।। 137

जिस प्रकार आकाश के प्रदेश हैं उसी प्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं। इस प्रकार प्रदेश के लक्षण की एक प्रकारता कही जाती है। इसलिए एकाणुव्याप्त जो एक परमाणु से व्याप्त हो ऐसे अंश के द्वारा गिने जाने पर जैसे आकाश के अनंत अंश होने पर आकाश अनंत प्रदेशी है वैसे ही जीव के असंख्यात अंश होने से वे प्रत्येक असंख्यात प्रदेशी हैं। जैसे संकोच-विस्तार-रहित होने की अपेक्षा अवस्थित प्रमाण वाले धर्म तथा अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं, उसी प्रकार संकोच-विस्तार के कारण संकोच-विस्तार होने की अपेक्षा अनवस्थित प्रमाण वाले जीव के सूखे गीले चमड़े की भांति निज अंशों का अल्पबहुत्व नहीं होता संख्या में प्रदेशों की हानि वृद्धि नही होती इसलिए असंख्यात प्रदेशित्व ही हैं। धर्म, अधर्म और एक जीव तुल्य

असंख्यात प्रदेशी हैं। उनमें धर्म और अधर्म द्रव्य निष्क्रिय है और लोक को व्याप्त करके स्थित है। जीव असंख्यात प्रदेशी होने पर भी संकोच विस्तार शील होने से कर्म अनुसार प्राप्त छोटे या बड़े शरीर में तत्प्रमाण होकर रहता है। जब समुद्घात काल में इसकी लोकपूरण अवस्था होती हो, तो तब इसके मध्यवर्ती आठ प्रदेश सुमेरु पर्वत के नीचे चित्रा और वज्रपटल के मध्य के आठ प्रदेशों पर स्थित हो जाते हैं शेष प्रदेश ऊपर नीचे तिरछे चारों ओर लोकाकाश को व्याप्त कर लेते हैं अर्थात् सारे लोकाकाश में फैल जाते हैं।

जैसे आकाश अखंड अभेद होते हुए भी लोकाकाश एवं अलोकाकाश रूप से इसके दो भेद हो जाते हैं, वैसे ही लोकाकाश के भी अनेक भेद प्रभेद हो जाते हैं उध्र्व लोक के आकाश, मध्य लोक के आकाश अधोलोक के आकाश। इसके भी अनेक भेद हो जाते हैं। जैसे विभिन्न घट, विभिन्न पात्र के आकाश। इसी प्रकार अखंड द्रव्य में भी प्रदेश भेद हो जाते हैं।

आकाशस्यानन्ताः । 9

आकाशस्यानन्ताः प्रदेशाः सन्ति।

The number of Paradesas in space is infinite.

आकाश के अनन्त प्रदेश हैं।

छहों द्रव्य में सबसे विशालतम् द्रव्य आकाश है। यह द्रव्य सर्वव्यापी है। इसके प्रदेश अनंत हैं। जिसका अन्त/अवसान नहीं है, उसको अनंत कहते हैं। लोकाकाश आकाश का एक बहुत छोटा भाग है इसके असंख्यात प्रदेश हैं। अलोकाकाश संपूर्ण दिशाओं में अनंत तक फैला हुआ है।

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम्।। 10

संख्येयाः असंख्येयाश्च (अनन्ताः अनन्तानन्ताः)

पुद्गलानाम् प्रदेशा भवन्ति।

Matter consists of numberable and infinite parts according as we consider the different molecular combinations.

पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

मुख्य रूप से पुद्गलों के दो भेद हैंः 1. अणु, 2 स्कंध। अणु सर्वदा एक प्रदेशी होता है। परंतु स्कंध संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त प्रदेशी भी होता है।

काल द्रव्य एक ही अविभाज्य प्रदेशी होता है। शुद्ध पुद्गल भी परमाणु की अपेक्षा एक प्रदेशी होते हुए भी उसमें स्निग्धत्व-रुक्षत्व गुण होते हैं जिसके परमाणु भविष्य में अन्य परमाणु या स्कंध से मिलकर बहुतप्रदेशी हो जाता है। इसलिए उपचार से परमाणु को भी बहुप्रदेशी कहते हैं। परंतु कालाणु अमूर्तिक होने के कारण उसमें स्निग्धत्व, रुक्षत्व गुण नहीं है जिससे कालाणु कभी भी अन्य कालाणु के बंध रूप परिणमन नहीं कर सकता है इसलिए कालाणु द्रव्य रूप में शक्ति रूप में या उपचार रूप में भी बहुप्रदेशी नहीं है।

पुद्गल द्रव्य में जो संख्यात, असंख्यात एवं अनंत प्रदेश होते हैं ये परमाणु के समूह रूप से हैं न कि आकाश प्रदेश की अपेक्षा हैं क्योंकि लोकाकाश के प्रदेश ही असंख्यात हैं और असंख्यात प्रदेश में ही अन्य धर्म, अधर्म, जीव, काल के साथ-साथ संपूर्ण पुद्गल परमाणु एवं स्कंध भी रहते हैं। इसलिए क्षेत्र की अपेक्षा संख्यात एवं असंख्यात प्रदेश हो सकते हैं परंतु अनंत प्रदेश नहीं हो सकते हैं।

''ण तेण सो काओ'' इसी हेतु से अर्थात् एक प्रदेशी होने से वह काल द्रव्य काय नहीं है। अब काल के एकप्रदेशी होने में युक्ति कहते हैं। जैसे अंतिम शरीर से किंचित् न्यून प्रमाण के धारक सिद्धत्व पर्याय का उपादान कारणभूत जो शुद्ध आत्म द्रव्य है वह सिद्धत्वपर्याय के प्रमाण ही है अथवा जैसे मनुष्य देव आदि पर्यायों का उपादान कारणभूत जो संसारी जीव द्रव्य है वह उस मनुष्य देवादि पर्याय के प्रमाण ही है, उसी प्रकार कालद्रव्य भी समय रूप जो काल की पर्याय है उसका विभाग से उपादान कारण है तथा अविभाग से एक प्रदेश ही होता है अथवा मंद गति से गमन करते हुए पुद्गल परमाणु के आकाश के प्रदेश पर्यन्त ही कालद्रव्य गति का सहकारी कारण होता है। इस कारण जाना जाता है कि वह कालद्रव्य भी एक ही प्रदेश का धारक है।

शंका– पुद्‌गल परमाणु की गति में सहकारी कारण तो धर्मद्रव्य विद्यमान है ही इनमें कालद्रव्य का क्या प्रयोजन है?

समाधान – क्योंकि, धर्म द्रव्य के विद्यमान रहते भी मत्स्यों की गति में जल के समान तथा मनुष्यों की गति में गाड़ी पर बैठना आदि के समान पुद्‌गल की गति में बहुत से भी सहकारी कारण होते हैं।

शंका–''कालद्रव्य पुद्‌गलों की गति में सहकारी कारण है'' यह कहां कहा हुआ है?

समाधान – श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय नामक प्राभृत में ''पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु'' ऐसा कहा है। इसका अर्थ कहते हैं कि धर्मद्रव्य के विद्यमान होते हुए भी जीवों की गति में कर्म–नोकर्मरूप पुद्‌गल सहकारी कारण होते हैं और अणु तथा स्कंध इन भेदों से भेद को प्राप्त हुए पुद्‌गलों के गमन में कालद्रव्य सहकारी कारण होता है।

एक प्रदेशी पुद्गल को अस्तिकाय कहने का कारण

एयपदेसो वि अणुणाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु।। 26
एकप्रदेशः अपि अणुः नानास्कन्धप्रदेशतः भवति।
बहुदेश उपचारात् तेन च कायः भणन्ति सव्वण्हु।।

An atom (of Pudgala), though having one Pradesa, becomes of many Pradesas, through being Pradesa in many skand has. For this reason, from the ordinary point of view, the omniscient ones call (it to be) Kaya.

एक प्रदेश का धारक भी परमाणु अनेक स्कन्धरूप बहुत प्रदेशों से बहुप्रदेशी होता है। इस कारण सर्वज्ञदेव उपचार से पुद्‌गल परमाणु को ''काय'' कहते हैं।

वस्तुतः शुद्ध पुद्‌गल अणु रूप ही होता है। स्कन्ध तो पुद्‌गल की अशुद्ध पर्याय है। तथापि पुद्‌गल में जो पूरण, गलन स्वभाव एवं स्निग्ध, रुक्षत्व गुण होते हैं, जिसके कारण पुद्गल अन्तरंग एवं बहिरंग कारणों को

प्राप्त करके द्वि अणुक आदि स्कंध रूप बहुप्रदेशी बन सकता है। इस प्रकार की योग्यता, शक्ति एवं संभावना के कारण शुद्ध पुद्गल अणु को भी उपचार से अर्थात् व्यवहार नय से बहुप्रदेशी कहा गया है। अणु अन्य परमाणु से रहित अविभाज्य एक ही प्रदेशी होता है ऐसा उमास्वामी आचार्य ने तत्वार्थसूत्र में कहा है यथा–

नाणोः।। 11

नाणोः प्रदेशा भवन्ति।

There are no numberable Paradesas of an indivisible elementary particle of matter (an atom).

परमाणु के प्रदेश नहीं होते।

दसवें सूत्र में कहा गया है कि पुद्गलों के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं। यह सामान्य कथन है। परंतु यहां पर विशेष कथन किया गया है कि अणु, पुद्गल होते हुए भी अणु के प्रदेश नहीं होते हैं। प्रदेश नहीं होते इसका मतलब ये नहीं कि अणु पूर्ण रूप से प्रदेश रहित हैं। परंतु परमाणु एक प्रदेश मात्र है तथा द्वि आदि प्रदेश से रहित है। जैसे रेखागणित में बिन्दु सत्तावान होते हुए भी अस्तित्ववान होते हुए भी इसकी लंबाई, चौड़ाई, मोटाई नहीं है।

जिस प्रकार एक आकाश प्रदेश में भेद नहीं होने से वह अप्रदेशी माना गया है उसी प्रकार अणु स्वयं एक प्रदेश रूप है इसलिए उसमें प्रदेश भेद नहीं होता है। दूसरे अणु से अल्प परिणाम नहीं पाया जाता। ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं जो परमाणु से छोटी हो जिससे इसके प्रदेश भेद को प्राप्त होवें।

इस परमाणु को किसी भी कृत्रिम प्रक्रिया से या स्वयं किसी प्राकृतिक प्रक्रिया से खंडित नहीं किया जा सकता है अथवा खंडित नहीं होता है। एक शक्तिशाली बम पहाड़ को विध्वंस कर सकता है। परंतु ऐसे कई शक्तिशाली बम भी अणु को खंडित नहीं कर सकते हैं। यह परमाणु न अग्नि से जलता है न पानी से गीला होता है न वायु से उड़ता है, न चक्षु से दिखाई देता है और न ही सूक्ष्मदर्शी यंत्र से दिखाई देता है।

परमाणु जब मंद गति से गमन करता है तब एक समय में एक प्रदेश गमन करता है और जब तीव्र गति से गमन करता है, तब एक समय में चौदह राजू गमन कर सकता है। मध्यम गति में अनेक विकल्प हैं। अणु जब गमन करता है तब उसकी गति को कोई भी वस्तु या यत्रांदि भी नहीं रोक सकता है। विज्ञान जिसको वर्तमन में अणु मानता है वह जैन सिद्धांत की अपेक्षा स्थूल स्कंध ही है, जिसमें अनंतानंत परमाणु मिले हुए हैं। वैज्ञानिक लोग परमाणु को अविभाज्य मानते हुए भी उनके द्वारा माना हुआ परमाणु पुनः पुनः अनेक विभाग में विभाजित होता जा रहा है। पहले न्यूट्रॉन, इलेक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन के समूह को अणु मानते थे परंतु यह भी नहीं हो सकता क्योंकि स्पष्ट रूप से ये तीनों अलग-अलग है इसकी लंबाई भी है और इसका वजन भी है। इतना ही नहीं आगे जाकर वह खंडित भी हो गया है और उस खंडित भाग को क्वार्क कहते हैं। यह क्वार्क भी अणु नहीं है। यह क्वार्क भी अनेक परमाणु के समूह से बना स्कंध है। परमाणु का विशेष वर्णन प्राचीन जैनाचार्यों ने निम्न प्रकार से किया हैः-

आदिमध्यान्तनिर्मुक्तं निर्विभागमतीन्द्रियम्।
मूर्तप्यप्रदेशं च परमाणुं प्रचक्षते।। 32

(हरिवंशपुराण पर्व, 7)

जो आदि मध्य और अंत से रहित है निर्विभाग है, अतीन्द्रिय है और मूर्त होने पर भी अप्रदेश-द्वितीयादिक प्रदेशों से रहित है उसे परमाणु कहते हैं।

एकदैकं रसं वर्णं गन्धं स्पर्शावबाधकौ।
दधत् स वर्ततेऽभेद्यः शब्दहेतुरशब्दकः।। (33)

वह परमाणु एक काल में एक रस, एक वर्ण एक गंध और परस्पर में बाधा नहीं करने वाले दो स्पर्शों को धारण करता है, अभेद्य है, शब्द का कारण है और स्वयं शब्द से रहित है।

आशंकया नार्थतत्त्वज्ञैर्नभोऽशानां समन्ततः।
षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता।। (34)

पदार्थ के स्वरूप को जानने वाले लोगों को ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि सब ओर से एक समय आकाश के छह अंशों के साथ संबंध

होने से परमाणु में षडंशता है।

स्वल्पाकाशषडंशाश्च परमाणुश्च संहताः।
सप्तांशाः स्यु कुतस्तु स्यात्परमाणोः षडंशताः।। 35

क्योंकि ऐसा मानने पर आकाश के छोटे-छोटे छह अंश और एक परमाणु सब मिलकर सप्तामांश हो जाते हैं। अब परमाणु में षडंशता कैसे हो सकती है।

वर्णगन्धरसस्पर्शः पूरणं गलनं च यत्।
कुर्वन्ति स्कन्धवत्तस्मात् पुद्गलाः परमाणवः।। 36

क्योंकि परमाणु रूप, गंध, रस और स्पर्श के द्वारा पूरण तथा गलन करते रहते हैं इसलिए स्कंध के समान परमाणु पुद्ल द्रव्य हैं।

जैसे यह परमात्मा शुद्ध निश्चयनय से द्रव्यरूप से शुद्ध तथा एक है तथापि अनादिकर्मबंधन के वश में स्निग्ध तथा रुक्ष गुणों के स्थानापन्न (एवज) जो राग और द्वेष है उनसे परिणाम को प्राप्त होकर, व्यवहार से मनुष्य, नारक आदि विभाव पर्यायरूप से अनेक प्रकार का होता है, ऐसे ही पुद्गल परमाणु भी यद्यपि स्वभाव से एक और शुद्ध है तथापि राग द्वेष के स्थानभूत जो बंध के योग्य स्निग्ध, रुक्ष गुण है उनसे परिणमन को प्राप्त होकर द्वयणुक आदि स्कंध रूप जो विभाव पर्याय हैं, उनसे अनेक प्रदेशों का धारक होता है। इसी हेतु से बहुप्रदेशतारूप कायत्व के कारण से पुद्गल परमाणु को सर्वज्ञदेव उपचार से काय कहते हैं। अब यहाँ पर यदि किसी का मत हो कि जैसे द्रव्यरूप से एक ही पुद्गल परमाणु के द्वयणुक आदि स्कंध पर्याय रूप से बहुप्रदेशरूप कायत्व सिद्ध हुआ है ऐसे ही द्रव्यरूप से एक होने पर भी कालाणु के समय, घटिका आदि पर्यायों के कायत्व सिद्ध होता है। इस शंका का परिहार करते हैं कि स्निग्ध रुक्ष गुण हैं कारण जिसमें ऐसे बंध का कालद्रव्य में अभाव है इस कारण वह 'काय' नहीं हो सकता। सो भी क्योंकि स्निग्ध तथा रुक्षपना जो है जो पुद्गल का ही धर्म है इसलिए काल में स्निग्धरुक्षत्व है नहीं और उनके बिना बंध नहीं होता और बंध के बिना काल में कायत्व नहीं सिद्ध होता। कदाचित् कहो कि ''अणु'' यह पुद्गल की संज्ञा है। काल को 'अणु' संज्ञा कैसे हुई? तो इसका

उत्तर सुनो– 'अणु' शब्द सूक्ष्म का वाचक है, जैसे परम अर्थात् प्रकर्ष (अधिकता) से जो अणु हो सो परमाणु है। इस व्युत्पत्ति से परमाणु शब्द जो है वह अति सूक्ष्म पदार्थ को कहने वाला है और वह सूक्ष्म वाचक ''अणु'' शब्द निर्विभाग पुद्गल की विवक्षा में तो 'पुद्गलाणु' को कहता है और अविभागी (विभागरहित) कालद्रव्य के कहने की जब इच्छा होती है तब कालाणु को कहता है। *(बृहदद्रव्यसंग्रह पृ. 57)*

प्रदेश का लक्षण एवं उसकी शक्ति

जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं।। (27)
यावतिकं आकाशं अविभागिपुद्गलाण्वष्टब्धम्।
तं खलु प्रदेशं जानीहि सर्वाणस्थानदानार्हम्।।

Know that (to be) surely Pradesa which is obstracted by one indivisible atom of Pudgala and which can give space to all particles.

जितना आकाश अविभागी पुद्‌गलाणु से रोका जाता है उसको सब परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ प्रदेश जानो।

इस गाथा में आचार्य श्री ने आकाश प्रदेश की परिभाषा एवं उसकी अवगाहनत्व शक्ति का वर्णन किया है। प्रदेश की परिभाषा करते हुए आचार्य श्री ने कहा कि शुद्ध अविभागी पुद्‌गल परमाणु जो अति सूक्ष्म होता है वह जितने आकाश प्रदेश को घेरता है अथवा उसका जितना घनफल है उस घनफल को एक प्रदेश कहते हैं। यह परमाणु इतना सूक्ष्म है कि इसे मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी एवं सामान्य अवधिज्ञानी भी नहीं देख सकते हैं। इसे भौतिक वैज्ञानिक सूक्ष्मदर्शी यंत्र से भी नहीं देख सकते हैं। इसको विशिष्ट अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी एवं केवलज्ञानी ही देख सकते हैं। ऐसे परमाणु प्रमाण आकाश प्रदेश को एक प्रदेश कहते हैं और यह प्रदेश क्षेत्र मापने की सबसे क्षुद्रतम इकाई है। इस प्रदेश के द्वारा ही आकाश के प्रदेश, धर्म द्रव्य के प्रदेश, अधर्म द्रव्य के प्रदेश, जीव द्रव्य के प्रदेश, काल

द्रव्य का प्रदेश मापा जाता है। ऐसे सूक्ष्म आकाश प्रदेश में इतनी अवगाहन शक्ति है कि वह आकाश प्रदेश एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक काल द्रव्य, संख्यात, असंख्यात एवं अनंत परमाणु को भी अवकाश दे सकता है। इसके साथ-साथ अनेक जीवों के आत्म प्रदेशों को भी स्थान दे सकता है।

इस प्रकार की अवगाहन शक्ति जो आकाश में है इसी हेतु से असंख्यात प्रदेश प्रमाण लोकाकाश में अनंतानंत जीव तथा उन जीवों से भी अनन्तगुणे पुद्‌गल अवकाश को प्राप्त होते हैं। सो ही जीव तथा पुद्‌गल के विषय में इसके अवकाश देने में सामर्थ्य आगम में कहा है।

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्यप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण।। (1)

(बृहद्द्रव्य संग्रहः पृ 58)

'' एक निगोद शरीर में द्रव्य परमाणु से भूतकाल के सब सिद्धो से अनंत गुणे जीव देखे गए हैं।''

उग्गाढगाढणिचिदो पुग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविहेहिं।। (2)।

यह लोक सब तरफ से विविध तथा अनतानंत सूक्ष्म और बादर पुद्‌गलकायों द्वारा अति सघनता के साथ भरा हुआ है।

अब कदाचित् किसी का ऐसा मत हो कि ''मूर्तिमान् पुद्‌गलों का तो अणु तथा द्वयणुक स्कंध आदि विभाग हो, इसमें कुछ विरोध नहीं है, परंतु अखंड तथा अमूर्त्त आकाश द्रव्य की विभाग कल्पना कैसे हो सकती है?

यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि राग आदि उपाधियों से रहित, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भावना से उत्पन्न जो सुख रूप अमृतरस है उसके आस्वादन से तृत्त ऐसे मुनि युगल (दो मुनियों) के रहने का स्थान एक है अथवा अनेक? यदि दोनों का निवास क्षेत्र एक ही है तब तो दोनों की एकता हुई परंतु ऐसा नहीं है। और यदि भिन्न मानो तो घट के आकाश तथा पटके आकाश की तरह विभाग रहित आकाश द्रव्य की भी विभाग कल्पना सिद्ध हुई।

षद् द्रव्यों का उपसंहार (चूलिका)

परिणामि–जीव–मुत्तं सपदेसं एय–खेत्त–किरिया य।
णिच्चं कारण–कत्ता, सव्वगदमिदंरहि यपवेसो। (1)
दुण्णि य एयं एयं, पंच–त्तिय एय दुण्णि चउरो य।
पंच य एयं एयं, एदेसं एय उत्तरं णेयं।। (2)

पूर्वोक्त षट्द्रव्यों में से परिणामी द्रव्य जीव और पुद्गल ये दो हैं। चेतन द्रव्य एक जीव है, मूर्तिमान एक पुद्गल है, प्रदेश सहित संख्या वाले धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य हैं, क्षेत्रवान एक द्रव्य धर्म, अधर्म आकाश तथा काल ये चार हैं, कारण द्रव्य–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच हैं कर्त्ताद्रव्य– एक जीव हैं सर्वगत (सर्व में व्यापने वाला) द्रव्य– एक आकाश है और ये छः द्रव्य प्रवेश रहित हैं अर्थात् एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का प्रवेश नहीं होता है। इस प्रकार छहों मूलद्रव्यों के उत्तरगुण जानने चाहिए।

(1) क– परिणामी – यह लोक परिणमनशील स्वभाव वाला है। भिन्न रूप धारण करना अर्थात् व्यंजन पर्याय को यहां परिणमन कहा गया है। यह व्यंजन पर्याय जीव और पुद्गल में उत्पन्न होती है। जीव में नरनारकादि विभाव व्यंजन पर्याय उत्पन्न होती हैं। पुद्गल में घट, पटादि रूप व्यंजन पर्याय उत्पन्न होती है। अतः जीव और पुद्गल परिणामी है। धर्मादिक द्रव्य में जीव पुद्गल की तरह अशुद्ध परिणमन नहीं होता इसलिए वे अपरिणामी है। अर्थ पर्याय की अपेक्षा सर्व जीवादि द्रव्य विजातीय परिणमन नहीं करने से अपरिणामी हैं। परंतु अपने सजातीय परिणमन की अपेक्षा से सर्व द्रव्य परिणामी हैं। यथा–

परिणामसहावादो पडिसमयं परिणमति दव्वाणि।
तेसिं परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणाम।।

(कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

परिणमन स्वभाव होने के कारण प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में परिणमन करते रहते हैं। द्रव्यों का समूह ही लोक है। इसलिए द्रव्यों के परिणमन से

लोक का परिणमन होता है। परिणमन स्वभाव वाले लोक को सांख्य मतानुयायी कूटस्थ- नित्य अर्थात् अपरिणामी मानते हैं वह युक्तियुक्त नहीं हो सकता है। वायु का गमन, पानी का बहना, जीव पुद्‌गल का गमन, वचन व्यापार भी नहीं हो सकता है क्योंकि परिणमन से ही ये सब कार्य संभव है। अपरिणामी मानने से छोटा बालक, युवक, वृद्ध नहीं हो सकता एवं जन्म मरण भी नहीं हो सकता है।

(1) ख- अपरिणामी – जिस प्रकार लोक एक दृष्टि से परिणमनशील है, अन्य एक दृष्टि से अपरिणमनशील भी है। यदि केवल परिणमनशील मानेंगे तो जीव-अजीव हो जाएगा एवं अजीव परिणमन होकर, जीव हो जाएगा। आकाश भूमि हो जाएगा, भूमि आकाश हो जाएगी, किंतु इस प्रकार त्रिकाल में भी नहीं होता है। इस कारण लोक एक दृष्टि से अपरिणामी है। इसलिए जो भौतिकवादी, रासायनिक प्रक्रिया के कारण पुद्‌गल से जीव-सृष्टि हुई मानते हैं, वह अत्यंत निराधार है। जो चेतन रूप ब्रह्म से अचेतन रूप जगत की सृष्टि हुई मानते हैं उनका सिद्धांत भी मिथ्या है। इसी प्रकार अन्य द्रव्य रूप परिणमन नहीं होने के कारण द्रव्य में रहने वाला अपरिणामी स्वभाव है।

2. जीव-अजीव – जीव अर्थात् आत्मा चेतन स्वरूप है। चेतन जीव को छोड़कर अन्य धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्‌गल में नहीं है क्योंकि वे अचेतन है। उनमें ज्ञातृत्व, दृष्टत्व शक्ति नहीं है। इस प्रकार लोक चेतनाचेतनात्मक है। लोक चेतनाचेतनात्मक है यह आबाल, वृद्ध वनिता के अनुभव गम्य है। इसलिए ''ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या है'' ऐसा सिद्धांत प्रत्यक्ष एवं अनुमान बाधित है। 'सर्व खल्वेदं ब्रह्म' अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म स्वरूप ही है,ऐसा मानना भी बाल चेष्टित है। यदि संपूर्ण जगत् ब्रह्म स्वरूप ही होता तब लकड़ी को जलाने से ब्रह्म भस्म रूप हो जाता, भोजन करने से ब्रह्म का भोजन होता। इससे जड़वादियों का भी निरसन हो जाता है। यदि संपूर्ण विश्व जड़ स्वरूप है तब मैं भौतिकवादी हूँ ऐसा अनुभव करने वाला कौन है? यदि जड़ अनुभव करने वाला है तो जड़वादियों का शव क्यों भौतिकवादियों का प्रतिपादन नहीं करता? यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश से जीव की सृष्टि होती है, तब दाल-

भात बनाते समय चूल्हे पर रखी हंडियों में पांच महाभूतों का संसर्ग होने पर जीव की उत्पत्ति हो जानी चाहिए, किंतु ऐसा नहीं होता। भौतिकवादियों की अपेक्षा जैसे भौतिक वस्तु सत्य, अनादि अनिधन है, परिणमनशील है, उसी प्रकार जीव भी जानना चाहिए।

3. मूर्त्त–अमूर्त्त– यह लोक मूर्त्तिक एवं अमूर्त्तिक स्वरूप भी है। पुद्‌गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रहने के कारण इसको मूर्त्तिक कहते हैं। दृश्यमान तथा पांचों इंद्रियों एंव यंत्रादि के द्वारा ग्रहणीय लोक के समस्त पदार्थ मूर्त्तिक ही हैं। सूर्य, चंद्र ग्रह, नक्षत्र, उल्का, निहारिका, आकश–गंगा आदि समस्त वस्तुयें मूर्त्तिक ही हैं। इसलिए लोक इनकी अपेक्षा मूर्त्तिक ही है। लोक केवल मूर्त्तिक ही नहीं लेकिन धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं जीव की अपेक्षा अमूर्त्तिक भी है। इससे जो आकाश एवं जीव को मूर्त्तिक मानते हैं, सिद्धांत का निरसन हुआ।

4. **सप्रदेश–अप्रदेश–** धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्‌गल बहुप्रदेशी होने के कारण लोक इसकी अपेक्षा बहु प्रदेशी है परंतु कालाणु और द्रव्य दृष्टि से पुद्‌गलाणु बहुप्रदेशी नहीं है। इस कारण लोक इसकी अपेक्षा अप्रदेशी है।

5. एक रुप– अनेक रुप– धर्म, अधर्म और आकाश एक रूप हैं और इनके प्रदेशों का कभी विघटन नहीं होता हैं इसकी अपेक्षा लोक एक रूप है। संसारी जीव, पुद्‌गल एवं काल अनेक रूप है क्योंकि उनके प्रदेश में भेद दिखते हैं। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्वतंत्र रूप से एक–एक कालाणु हैं। वे कभी भी मिलकर एक नहीं होते, इसलिए अनेक रूप हैं। लोक में अनन्तानंत पुद्‌गल परमाणु हैं। वस्तुतः शुद्ध पुद्‌गल परमाणु स्वरूप हैं। वे शुद्ध परमाणु पुद्‌गल अनेक रूप हैं। संसार में स्वतंत्र–स्वतंत्र सत्ता को लिए हुए अनंतानंत जीव हैं। मुक्त जीव गुणादि की अपेक्षा परस्पर समान होने पर उनकी सत्ता स्वतंत्र–स्वतंत्र हैं। इससे जो केवल एक परम ब्रह्म के अंश रूप जीव समूह मानते हैं, उनके मत का निरसन हुआ। कैवल्य प्राप्त होने के बाद जीवात्मा परमात्मा में विलीन हो जाता है और उसमें ही एकमेक हो जाता है, उनके मत का भी यहां निरसन हुआ,

क्योंकि कैवल्य प्राप्त होने के बाद अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व आदि गुणों के कारण, एक आत्मा में अनन्तानंत आत्मा समावेश होने पर भी उनके सत्ता, ज्ञान, दर्शन, सुखादि गुण, स्वतंत्र-स्वतंत्र रहते हैं। उनके सत्ता, ज्ञान दर्शन आदि गुण किसी अन्य परमात्मा में समाविष्ट नहीं होते हैं। इसलिए कैवल्य प्राप्त अनंतानंत जीव हैं। संसारी जीव भी अनंतानंत हैं। संसार में गति, जाति आदि कर्म की भिन्नता के कारण अनेक रूप ही पाए जाते हैं। यह संसारी जीव भी स्वतंत्र-स्वतंत्र एक-एक जीव द्रव्य हैं। यह संसारी जीव भी परमात्मा के अंश स्वरूप नहीं हैं। किंतु वे प्रत्येक स्वयं पूर्ण अप्रगट रूप में परमात्मा हैं। जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानने पर परमात्मापूर्ण नहीं रह सकता है एवं जीवात्मा भी पूर्ण नहीं हो सकता है। जीवात्मा यदि परमात्मा का अंश है तब जीवात्मा को कष्ट, सुख-दुःख होने पर परमात्मा को भी कष्ट-सुख-दुःख होना चाहिए किंतु परमात्मा पूर्णानन्द स्वरूप है वे समस्त सांसारिक सुख-दुःख से रहित हैं। कुछ लोग कहते हैं कि परमात्मा पूर्ण हैं। पूर्ण से पूर्ण ऋण करने पर पूर्ण रहते हैं। जैसे-

1. शून्य से शून्य ऋण करने पर शून्य ही रह जाता है। (0-0=0)

2. शून्य के द्वारा शून्य को गुणन करने पर शून्य ही होता है। (0x0=0)

3. शून्य को शून्य द्वारा विभाजन करने पर शून्य ही होता है। (0/0=0)

4. शून्य में शून्य मिलाने पर शून्य ही होता है। (0+0=0)

साधारणतः उपरोक्त चारों प्रक्रिया से प्राप्त 'शून्य' सामान्य होने पर भी क्या सूक्ष्य गणित की दृष्टि से चारों शून्य समान है? चारों शून्य में परिमाण की अपेक्षा कम या ज्यादा है। पहले समीकरण में जो शून्य का मूल्य है, वह दूसरे शून्य के परिमाण से कम (ऋण) प्रथम शून्य के परिमाण (मूल्य) के समान हैं। दूसरे समीकरण में जो शून्य है, वह दूसरे शून्य के परिमाण से कम (ऋण) प्रथम शून्य के परिमाण (मूल्य) के समान हैं। दूसरे समीरण में जो शून्य है, वह शून्य प्रथम समीकरण से प्राप्त मूल्य से अत्यंत अधिक है। इस शून्य का मूल्य प्रथम शून्य के परिमाण में दूसरे शून्य के परिमाण के द्वारा गुणित फल के समान हैं। तीसरे समीकरण में भाग के फलस्वरूप

प्राप्त शून्य दूसरे समीकरण से प्राप्त शून्य परिमाण से कम हैं। चतुर्थ समीकरण से प्राप्त शून्य का मूल्य तीसरे समीकरण से प्राप्त शून्य के मूल्य से अधिक है। इसका मूल्य दोनों शून्य के योगफल स्वरूप है। यह बीज गणितीय पद्धति को अंकगणितीय पद्धति में परिवर्तित करने पर उनका फल स्पष्ट मालूम होता हैं मान लीजिए शून्य का मूल्य 4 है। तब उपरोक्त चारों समीकरण निम्न प्रकार के होंगे।

(1) 0-0=0

4-4=0

(2) 0-0=0

4x4=16

(3) 0/0=0

4/4=1

(4) 0+0=0

4+4=8

यहां जब पहले समीकरण का मूल्य शून्य है, उस समय, दूसरे समीकरण का मूल्य 16 है, तीसरे समीकरण का मूल्य 1 है और चर्तुथ समीकरण से प्राप्त शून्य का मूल्य 8 है। बीजगणितीय पद्धति से प्राप्त शून्यों का मूल्य साधारण दृष्टि से समान होने पर भी उनका मूल्य अत्यंत भिन्न-भिन्न है। उदाहरण के लिए मान लीजिए पूर्ण समुद्र से एक अणु रूप जल कम किया गया। क्या साधारण दृष्टि से समुद्र का जल स्तर कम दिखाई देगा? समुद्र के जल के निम्न चाप एवं समुद्र के जल के भार में कुछ कमी मालूम पड़ेगी? स्थूल दृष्टि से समुद्र के जल का स्तर भार एवं चाप में कमी नहीं दिखाई देने पर भी वस्तुतः वैज्ञानिक गणितीय पद्धति से एक परमाणु के घन परिमाण जल कम होने से जो जल स्तर कम होता है, उतना निश्चित रूप से कम हुआ। भले ही सूक्ष्म यंत्र के माध्यम से भी हम इसे नहीं माप सकते हैं। समुद्र के जल का भार एवं चाप भी एक परमाणु के समान भार एवं चाप कम हो गया। यह हमारे क्षुद्र इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा

स्पष्ट मालूम नहीं पड़ने पर भी अनुमान, वस्तुत्व के ज्ञान, गणितीय ज्ञान के द्वारा जान सकते हैं। केवल ज्ञानी तो इसको स्पष्ट रूप से जानते हैं। इसी प्रकार परमात्मा अनंत शक्ति वाला होने पर भी उसमें से जितना अंश शक्ति का पृथक् होगा,उतने अंश में उसमें निश्चित रूप से अपूर्णता होगी। जब परमात्मा अपूर्ण होगा तब उसको पूर्ण ब्रह्म नहीं कह सकते हैं। अनुभूति से प्रत्येक जीव स्वतंत्र सिद्ध होता है क्योंकि एक जीव की अनुभूति, सुख-दुःख अन्य जीव में नहीं पाए जाते हैं। परमात्मा का सुख जीवात्मा को प्राप्त नहीं है एवं जीवात्मा का दुःख परमात्मा को प्राप्त नहीं हैं। इस प्रकार से सिद्ध हुआ कि परमात्मा भिन्न-भिन्न अनंतानंत है एवं जीवात्मा भी अनंतानंत है।

'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' (ऋग्वेद) अर्थात् एक परम ब्रह्म है, वही अनेक रूप धारण करने के बाद ज्ञानी पुरुषों के द्वारा अनेक नामों से पुकारा जाता है, जैसे सूर्य एक होने पर भी, उसका प्रतिबिंब अनेक जल पात्र में पड़ने पर अनेक सूर्य दिखाई देते हैं, लेकिन वस्तुतः सूर्य एक है किंतु यह कथन अयुक्तियुक्त है। क्या जल पात्र में प्रतिबिंबित वास्तविक सूर्य है? यदि वास्तविक सूर्य होता तब विशाल सूर्य छोटे से जलपात्र में कैसे समा जाता है? यदि सूर्य पात्र में प्रवेश कर लेता है तो पात्र का जल प्लावन हो जाता एवं अत्यंत ऊष्ण भी हो जाता। यदि कहा जाए कि जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिंब पात्र में है उसी प्रकार परमात्मा का प्रतिबिंब जीवात्मा है तब जीवात्मा में वास्तविक ज्ञान सुखादि गुण कैसे प्राप्त हुआ? यदि हम कहेंगे कि परमब्रह्म सर्वगत है तो पुनः स्वतंत्र रूप से एक अंश जीवात्मा मे ंप्रवेश क्यों किया? जीवात्मा आदि अपना ही अंश है तब अपने अंश को क्यों मोह में ग्रस्त करके सुख-दुःख प्राप्त कराता है। यदि जीवात्मा कैवल्य प्राप्त करने के बाद अपनी सत्ता एवं सुखादि गुणों को खो देता है तो विचारिये कि कौन ज्ञानवान व्यक्ति स्वज्ञान प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करेगा।

6. क्षेत्र-अक्षेत्र- आकाश को क्षेत्र कहते हैं, क्योंकि वह समस्त पदार्थों को अवकाश देता है। आकाश की अपेक्षा लोक क्षेत्र स्वरूप है। जीव, पुद्गल, धर्म और अधर्म अक्षेत्र हैं, क्योंकि उनमें अवगाहन लक्षण

का अभाव है। यदि आकाश को एक स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानेंगे तो समस्त द्रव्य किसके आधार पर रहेंगे। आकाश के समस्त द्रव्यों का आधार होने के कारण एक विराट् स्वरूप परम ब्रह्म की आवश्यकता नहीं है, जिसके गर्भ में समस्त जगत् समाविष्ट हैं।

7. क्रिया–अक्रिया– जीव और पुद्‌गल क्रियावान हैं, क्योकि उनमें गति पायी जाती हैं यहां पर एक स्थान से अन्य स्थान पर प्राप्त रूप कार्य को क्रिया कहा गया है। इस अपेक्षा से लोक क्रियावान हैं। यदि जीव (पुरुष) को एकांत से, निष्क्रिय कूटस्थ, नित्य, सांख्य सिद्धांत के समान मानेंगे तब संसार का ही अभाव हो जाएगा, क्योंकि संसारी जीव–क्रिया रहित कोई भी नहीं है। यदि कहा जाए, प्रकृति के संयोग से जीव क्रियाशील हो जाता है, तो भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जिसमें स्वतः क्रिया रूप परिणमन की शक्ति नहीं है, उसको बाह्य अनेक कारण मिलने पर भी वह क्रियाशील नहीं हो सकता है।

जैसे– आकाश स्वतः क्रिया रहित होने के कारण आकाश के एक प्रदेश को ही चलायमान करने के लिए एक दो नही कोटि–कोटि शक्तिशाली बम भी समर्थ नहीं हैं इससे सिद्ध हुआ कि पुद्‌गल के समान जीव भी क्रियावान है। धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल अक्रिया अर्थात् क्रिया रहित हैं। इनकी अपेक्षा लोक भी क्रिया रहित है।

8. नित्य–अनित्य– धर्म–अधर्म आकाश और निश्चय काल नित्य है क्योंकि विभाव व्यंञ्जन पर्याय उनमें नहीं है। अतः उनके नाश न होने से वे नित्य हैं। इनकी अपेक्षा लोक भी नित्य है। इसलिए नित्य क्षणिकवादी–बौद्धों का सिद्धांत भ्रांतिपूर्ण है। जीव और पुद्‌गल अनित्य हैं। एकांततः लोक को नित्य मानने पर किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं हो सकती है। व्यंञ्जन पर्याय की अपेक्षा जीव पुद्‌गल अनित्य होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा नित्य है, इसलिए विश्व नित्यानित्यात्मक हैं।

9. कारण–अकारण – पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल ये द्रव्य कारण हैं, क्योंकि जीवों के उपकारक हैं। इनकी अपेक्षा लोक भी कारण स्वरूप है। ये द्रव्य जीव का उपकार करने पर भी वे स्वयं जीव रूप

परिणमन नहीं करते हैं। इन द्रव्यों के कारण स्वरूप होने के कारण अन्य परम ब्रह्म को कारण मानना आवश्यक है। जीव अकारण हैं, क्योंकि वह स्वतंत्र हैं। जीव- पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश के लिए कारण भी नहीं होता है। जीव चेतन स्वरूप, अखंड स्वरूप, अमूर्तिक होने के कारण संसार का कारण नहीं हो सकता है। ''एव योनिः सर्वस्य'' (मांडुकोपनिषद्) अर्थात् यह परमात्मा संपूर्ण जगत् का कारण है। इस प्रकार जो उपनिषद् में वर्णित है, उसका यहां खंडन हुआ। यदि ब्रह्मा जगत् का कारण होता तब संपूर्ण जगत् जड़ स्वरून नहीं होता, बल्कि चेतन स्वरूप होता क्योंकि कारण के अनुसार कार्य होता है।

10. कर्त्ता-अकर्त्ता- जीव कर्त्ता हैं, क्योंकि शुभाशुभ कर्मों का भोक्ता है। जो कर्त्ता होता है, वही भोक्ता होता है। शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता होने के कारण जीव स्वयं अपने प्रपञ्च का कर्त्ता है। प्रपञ्च का कर्त्ता होने के कारण वह प्रपञ्च से प्राप्त सुख-दुःख का भोक्ता स्वयं ही है। जीव स्वयं अपने संसार का कर्त्ता होने पर भी समस्त जीवों का एवं समस्त अजीवों का कर्त्ता नहीं है। यह मोहादि भावों की सृष्टि शुद्ध परमात्मा में नहीं हो सकती है। इसलिए परम् ब्रह्म जगत् का कर्त्ता नहीं है, और जो जगत् का कर्त्ता है, वह शुद्ध परमात्मा नहीं हो सकता है। यदि करुणामय, दया सागर, अनंत ज्ञानी परमात्मा सृष्टि के कर्ता होते तब संसार में करुणारहित, निर्दयी, अज्ञानी जीवों की उपलब्धि नहीं होती। भगवान् दयाशील होकर भी एक को सुखी क्यों करते हैं और अन्य को दुःखी क्यों करते हैं। यदि इस प्रकार भेदभाव है तो उनमें पक्षपात है। जो पक्षपाती हैं वे रागीद्वेषी हैं। जो रागीद्वेषी हैं वे परमात्मा नहीं हो सकते हैं। यदि हम कहें कि परमात्मा जीव के कर्म अनुसार फल देते हैं, इसलिए उनमें पक्षपात नहीं है। यदि कर्म के अनुसार जीव को फल प्राप्त होता है, तब परमात्मा सृष्टि का कर्त्ता कैसे होगा? इतना ही नहीं, ब्रह्मा, विष्णु महेश्वरादि भी जब कर्म के अधीन हैं तब वे कैसे स्वतंत्र रूप से जगत् की सृष्टि कर सकते हैं?

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्ड भाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने, क्षिप्तो महा संकटे।

रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गमने तस्मै नमः कर्मणे।। (96)

(भर्तृहरि नीतिशतक)

हम लोग देवताओं को नमस्कार करते है,पर वे भी दुष्टविधि के ही अधीन हैं। इसलिए यदि हम विधाता को नमस्कार करते हैं तो वह विधाता भी स्वतंत्रतया हमको फल देने में समर्थ नहीं है, वे कर्म के अनुसार ही फल देते हैं इसलिए जब फल कर्म के अनुसार ही मिलता है तब हमें क्या मतलब देवताओं से और क्या मतलब विधाता से? उस कर्म को ही क्यों न नमस्कार करें, जिस पर विधाता का भी कोई वश नहीं चलता।

परम–ब्रह्म, जीवात्मा पर दया करके भी सुख देने में समर्थ नहीं हैं। पूर्व जन्म में किया हुआ सुकृत ही जीव की रक्षा करता है। विष्णु भी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं। स्वयं विष्णु (श्री रामचंद्र) की पत्नी (सीता) को भी रावण हरण करके ले गया और उसको रामचंद्र नहीं जान पाये एवं हठात् सीता का उद्धार भी नहीं कर पाये। स्वयं विष्णु (श्री कृष्ण) को जरत कुमार ने बाण मारा एवं उस बाण के घात से प्राण का अपहरण हुआ तो भी अपनी रक्षा नहीं कर पाये। भस्मासुर जब इंद्र को जलाने के लिए दौड़ा उस समय रुद्र भी अपनी रक्षा नहीं कर पाए और भस्मासुर को भी नष्ट नहीं कर पाये। इससे सिद्ध होता है कि अन्य कोई शक्ति है, जिससे जीव की रक्षा होती है। जैसे कि भर्तृहरि ने कहा है–

वने रणे शत्रुजलाग्नि मध्ये,
महार्णवे पर्वत मस्तके वा। (98)
सुप्तं प्रगतं विषमस्थिते वा,
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि।। (98)

(नीतिशतक)

पूर्व जन्म में किया हुआ पुण्य ही पुरुष को वन में, रण में, शत्रुओं से घिर जाने पर, अग्नि में, जल में, महासमुद्र में, पर्वत की चोटी पर, सुप्तावस्था में, असावधनी में और संकट–काल आ जाने पर रक्षा करता है।

स्वयं कृष्ण नारायण ने भी अपने मुखारविन्द से श्रीमद्भागवत्गीता में,

लोक में कोई कर्त्ता नहीं है, इस प्रकार बताया है–

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु।
न कर्मफलं संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।

परमेश्वर भी भूत–प्राणियों के न कर्त्तापने को और न कर्मों को तथा न कर्मों के फल के संयोग को वास्तव में रचता है, किंतु परमात्मा के सकाश (कारण) से प्रकृति ही वर्तती है अर्थात् गुण ही गुणों में वर्त्त रहे हैं।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकुतं विभुः
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।

सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पाप कर्म को और न किसी के शुभ कर्म को भी ग्रहण करता है, किंतु माया के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है। इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं।

स्याद्वाद मञ्जरी में आचार्य हेमचंद्र ने भी जगत् का कोई कर्ता नहीं है, ऐसा बताया है एवं कर्त्तावाद का भी खंडन किया है।

कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमा कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्।।

हे नाथ! जो अप्रमाणिक लोग, जगत् का कोई कर्त्ता है– 1. वह एक है, 2. सर्वव्यापी है, 3 स्वतंत्र है और 4. नित्य है आदि दुराग्रह से परिपूर्ण सिद्धांतों को स्वीकार करते हैं उनके आप अनुशासक नहीं हो सकते हैं।

संक्षिप्त में चैतन्य, पुद्गल से एक स्वतंत्र द्रव्य हैं। इसको उत्पन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह चैतन्य द्रव्य अन्य द्रव्य से उत्पन्न नहीं हुआ है। यह एक शाश्वतिक अनादि निधन द्रव्य है। लोक भी शाश्वत है। लोक में रहने वाला पौद्गलिक द्रव्य भौतिक सिद्धांत का जो अत्यंत मान्य विकासवाद का सिद्धांत है वह इस सिद्धांत में आत्मा के अस्तित्व के बारे में ज्ञान नहीं होने के कारण अपूर्ण है। एकांत पक्ष होने के कारण एवं असंपूर्ण साक्षात्कार होने के कारण असत्य है। निर्जीव वस्तु से आत्मा तत्व उत्पन्न हुआ, इस प्रकार मानकर आत्म तत्व का अपमान करता है। ईश्वरवादी मत के शास्त्र भी भ्रांतिपूर्ण हैं इसका कारण वे भगवान् को

विश्व का उपादान कारण मानते हैं एवं वे असत्य से सत्य के उत्पन्न होने के बात को पोषण करते हैं। धर्म एवं विज्ञान परस्पर अनुपूरक एवं परिपूरक रूप से कार्य करते हैं अर्थात् समन्वय से कार्य करते हैं।

इस कार्य के लिए अन्य कारणान्तर की आवश्यकता नहीं होती है। जब स्वयं द्रव्य कार्य करने मे ंसमर्थ है उस समय में अन्य कर्ता की आवश्यकता ही नहीं रहती है। कविवर दौलतराम जी ने इस भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है।

किनहू न करौ न धरे को षट्द्रव्यमयी न हरे को।
सो लोकमांहि बिन समता दुःख सहे जीव नित भ्रमता।।

(छहढ़ाला)

इस षडद्रव्यमयी लोक को न किसी ने बनाया है, और न किसी के द्वारा धारण किया गया है और नहीं किसी के द्वारा नष्ट किया जा सकता है किंतु जीव बिना समता के कारण कर्त्ता, धर्त्ता एवं हर्त्ता होकर, संसार में परिभ्रमण करते हुए दुःख अनुभव कर रहा है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं पुद्गल अकर्त्ता है, क्योंकि शुभाशुभ कर्मों का भोक्तृत्व नहीं है। सांख्य मत जो केवल प्रकृति जड़ को कर्त्ता मानते हैं उसका निरसन हुआ क्योंकि जड़ में चेतन शक्ति नहीं होने के कारण वह कर्त्ता नहीं हो सकता है। यदि केवल प्रकृति ही कर्त्ता होती तो प्रकृति को ही फल भोगना पड़ता,किंतु प्रकृति जड़ होने के कारण उसमें भोक्तृत्व शक्ति भी नहीं है।

11. सर्वगत-असर्वगत- आकाश सर्वगत है क्योंकि वह सर्वत्र है। इस अपेक्षा से लोक भी सर्वगत है। धर्म, अधर्म, काल, जीव, पुद्गल सर्वगत नहीं है क्योंकि वे सर्वत्र नहीं पाए जाते हैं। इसकी अपेक्षा लोक असर्वगत है। केवलज्ञान की अपेक्षा केवली भगवान् सर्वगत होने पर भी द्रव्य की अपेक्षा सर्वगत नहीं है। वे स्वात्म स्थितः सर्वगतः अर्थात् स्वात्मा में स्थित होने पर भी केवलज्ञान के माध्यम से लोक-अलोक को जानते हैं इसलिये सर्वगत है। जो आत्मा द्रव्य की अपेक्षा परमात्मा को सर्वगत मानते हैं, उनके मत का यहां खंडन प्राप्त हुआ। आत्मा सर्वगत होने पर

गमनादि एवं सृष्टि प्रक्रिया आदि क्रिया उनके द्वारा नहीं हो सकती है। ईश्वर का सर्वगत शरीर की अपेक्षा है या ज्ञान की अपेक्षा? प्रथम पक्ष में ईश्वर का अपना शरीर ही सर्वगत तीन लोक में व्याप्त हो जाएगा, फिर दूसरे बनाने योग्य (निर्मेय) पदार्थों के लिए कोई स्थान हीं नहीं रहेगा। ज्ञान की अपेक्षा मानने का तो जैन समुदाय को ही श्रेय है परंतु ईश्वर को शरीर की अपेक्षा सर्वगत मानने पर विरोध आता है। वेद में ईश्वर को शरीर की अपेक्षा सर्वव्यापी कहा गया है। यथा– 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरूप विश्वतः पात ईश्वर सर्वत्र नेत्रों का, मुख का, हाथों का और पैरों का धारक है। यदि कहते कि ईश्वर को नियत स्थानवर्ती माना जाए तो तीन लोक में अनियत स्थानों के पदार्थों की उत्पत्ति यथावत् नहीं हो सकेगी। तो यहां प्रश्न होता है कि त्रैलोक्य की सृष्टि करने वाला ईश्वर बढ़ई की तरह साक्षात् शरीर की सहायता से जगत् को बनाता है अथवा संकल्प मात्र से? प्रथम पक्ष स्वीकार करने में पृथ्वी, पर्वत आदि का निर्माण करने में अत्यंत कालक्षेप की संभावना होने से बहुत समय लगेगा। इसलिए बहुत समय तक तीन लोक की रचना नहीं हो सकेगी। यदि संकल्प मात्र से ही सृष्टि बनती है, तो एक स्थान में रहकर भी ईश्वर जगत् को बनाये तो उसमें भी कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि नियत देश में रहने वाले सामान्य देव भी संकल्प मात्र से ही उन–उन कार्यों का संपादन करते हैं।

ईश्वर को शरीर की अपेक्षा सर्वव्यापी मानने पर वह ईश्वर अशुचि पदार्थों में और निरंतर महान्धकार से व्याप्त नरकादि में रहा करेगा और यह मानना ईश्वरवादियों को इष्ट नहीं है। यदि कहें कि भगवान् ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी है अर्थात् उन भगवान को भी अशुचि पदार्थों के रसास्वादन का ज्ञान होता है तथा नरकादि दुखों का अनुभव होता है। किंतु यह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि जानने वाला ज्ञान अपने स्थान में स्थित होकर ज्ञेय को जानता है। ज्ञेय के स्थान को प्राप्त होकर के नहीं। इसलिए यह दूषण नहीं लगता है। केवल अशुचि पदार्थ के ज्ञान से ही रसास्वादन की अनुभूति नहीं होती। यदि ऐसा होने लगा तो माला, आहार, चंदन, स्त्री और मनोज्ञ पदार्थ के चिंतन मात्र से तृप्ति होनी चाहिए और मालादि के लिए प्रयत्न करना भी निष्फल होगा।

एवमिह णाणसत्ती आपत्था चेव हदि लोगंत।
जई परिछिंदई सम्मं को णु विरोहो भवे एत्थं।।

इस प्रकार ज्ञान शक्ति आत्मा में ही रहकर लोक के पदार्थों को भली–भांति जानती है उसमें कोई विरोध नहीं है।

12. प्रवेश–अप्रवेश :– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल अपने द्रव्य स्वभाव को छोड़ कर अन्य के धर्म में प्रवेश नहीं करते हैं। इसलिए धर्मादि अप्रवेश हैं। एक के आकाश प्रदेश में छहों द्रव्य परस्पर अवगाहित होकर रहते हैं इसलिए इसकी अपेक्षा प्रवेश युक्त है।

अण्णोणं पविसंता दिंता उग्गासमण्णमण्णस्स।
मेलंतावि या णिच्यं सर्गं सगं भावं ण विजहंति।।

(पंचास्तिकाय 7)

एक दूसरे को अवगाहन देकर परस्पर प्रवेश होकर के अथवा मिलकर रहने पर भी अपने–अपने स्वभाव का त्याग नहीं करते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप में परिणमित होने पर जीव अजीव एवं अजीव जीव द्रव्य हो सकता है। किंतु द्रव्य अपने भाव को त्रिकाल में भी नहीं छोड़ते हैं। इसलिए एक द्रव्य रूप में परिणमन नहीं करते हैं। यदि कहें कि द्रव्य ऐसा परिणमन क्यों नहीं करते हैं एवं उनमें इस प्रकार स्वभाव क्यों है? इसके उत्तर स्वरूप में यह है कि ''यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्'' अर्थात् यह समस्त धर्म स्वयं वस्तु को रूचता है अर्थात् इस धर्म में रहना पदार्थों को पसंद है। यदि यह सर्व धर्म स्वयं वस्तु को रूच रहे हैं तो हम कहने वाले कौन हैं? किसी व्यक्ति द्वारा वस्तु के स्वभाव को मानने पर किंवा नहीं मानने पर वस्तु अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता है।

षट्द्रव्यों में से क्या हेय है और क्या उपादेय है इस स्वरूप को विशेष रीति से विचारते हैं। उनमें शुद्ध निश्चयनय से शक्ति रूप ही उपादेय (ग्राह्य) हैं। और व्यक्ति रूप से अर्हंत् सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पांच परमेष्ठी ही उपादेय हैं। इन पांचों में से भी अर्हंत् सिद्ध ये दो ही उपदेय हैं। इन दो में से भी निश्चय की अपेक्षा से सिद्ध ही उपादेय और परम निश्चय से भोगों की अभिलाषा आदि रूप जो संपूर्ण विकल्पों के

समूह है उनसे रहित जो परम ध्यान का समय है उस समय में सिद्धों के समान जो निज शुद्ध आत्मा है, वही उपादेय है। अन्य सब द्रव्य हेय हैं, यह तात्पर्य है। अब 'शुद्धबुद्धैकस्वभाव' इस पद का क्या अर्थ है सो कहते हैं– मिथ्यात्व, राग आदि संपूर्ण विभावों से रहित होने के कारण आत्मा बुद्ध कहा जाता है। इस प्राकर जहाँ–जहाँ 'शुद्धबुद्धैकस्वभाव' यह पद आवे वहां–वहां सर्वत्र यही पूर्वोक्त लक्षण समझना चाहिए। इस रीति से षट्द्रव्यों की चूलिका समाप्त हुई। अब 'चूलिका' इस शब्द का अर्थ कहते हैं। ''चूलिका'' किसी पदार्थ के विशेष व्याख्यान को अथवा उक्त (कहे हुए) विषय में जो अनुक्त (नहीं कहा हुआ) विषय है उसके व्याख्यान को तथा उक्त तथा अनुक्त से मिला हुआ जो कथन है उसको कहते हैं।

प्रथम महा अधिकार के अभ्यास प्रश्न

1. मंगलाचरण क्यों किया जाता है?
2. जिनवर वृषभ किसे कहते हैं?
3. 'जिनेंद्र द्वारा कहा हुआ' इसका क्या भावार्थ है?
4. जीव के कितने मूल अधिकार हैं?
5. संसारी जीव की परिभाषा बताओ?
6. निश्चय से जीव की परिभाषा क्या है?
7. जीव अनादि से है इसकी सिद्धि कीजिए?
8. जीव अनादि से नहीं है परंतु भौतिक प्रक्रिया से जीव की सृष्टि हुई है ऐसा मानने में क्या–क्या दोष हैं?
9. उपयोग किसे कहते हैं?
10. दर्शनोपयोग एवं ज्ञानोपयोग की परिभाषा बताओ?
11. उपयोग के भेद एवं प्रभेद बताओ?
12. ज्ञान का भेद विभिन्न दृष्टिकोण से कीजिए?
13. शुद्ध नय से जीव के कितने उपयोग तथा शुद्ध नय से कितने उपयोग होते हैं?

14. शुद्ध नय से जीव अूमर्तिक होते हुए भी व्यवहार नय से मूर्तिक कैसे है?
15. विभिन्न दृष्टि से जीव का कर्त्तृत्वपना बताओ?
16. शुद्ध निश्चय नय से जीव पुद्गल कर्मों का कर्त्ता क्यों नहीं है?
17. जीव घर, वस्त्र ईंटादि का कर्त्ता किस नय से है?
18. जीव पुण्य-पाप का भोक्ता क्यों बनता है?
19. निश्चय नय से आत्मा चैतन्य भावों का कर्त्ता है इसका क्या भावार्थ है?
20. चींटी के शरीर में जो आत्मा है उसमें कितने प्रदेश एवं महाकाय हाथी तथा महामच्छ के शरीर में जो आत्मा है उसमें कितने प्रदेश हैं।
21. बट बीज के अंकुर में कितने आत्म प्रदेश है और वहीं अंकुर जब विशाल वृक्ष बनता है तब कितने प्रदेश हैं?
22. छोटे एवं बड़े शरीर में आत्मा प्रदेश किस कारण से व्याप्त होकर रहते हैं?
23. समुद्घात किसे कहते हैं?
24. समुद्घात के कितने भेद होते हैं?
25. स्थावर जीव की परिभाषा बताओ?
26. त्रस जीव की परिभाषा बताओ?
27. स्थावर जीव के भेद तथा नाम बताओ?
28. जल, अग्नि, वायु आदि चलती है तो क्या वे त्रस है? यदि नहीं तो क्यों नहीं?
29. जीव समास के नाम बताओ?
30. कौन-कौन से जीव के कितने-कितने प्राण रहते हैं?
31. संसारी जीव कितने गुणस्थान तक होते हैं?
32. 'सव्वे शुद्धा हु शुद्धणया'' का रहस्य बताओ?
33. गुणस्थान के नाम बताओ?

34 सामान्यतः गुणस्थान एवं मार्गणा में अंतर बताओ?

35. आपका गुणस्थान एवं जीव समास बताओ?

36. सिद्ध भगवान् का आकार एवं स्वरूप बताओ?

37. कौन-कौन से कर्म के क्षय से कौन-कौन से गुण प्रगट होते हैं?

38. अरिहंत एवं सिद्ध प्रतिमा में क्या अंतर है?

39. सिद्ध भगवान् लोकाग्र के ऊपर क्यों नहीं जाते हैं?

40. सिद्ध भगवान् में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य किस प्रकार होता है?

41. कितने द्रव्य मूर्तिक है और कितने द्रव्य अमूर्ति हैं?

42. मूर्तिक और अमूर्तिक की परिभाषा बताइए?

43. पुद्गल द्रव्य की विभिन्न पर्यायों का नाम बताओ?

44. शब्द की उत्पत्ति किस प्रकार होती है?

45. शब्द की गति कहां तक हो सकती है?

46. प्रकाश एवं अंधकार भी पौद्गलिक क्यों है?

47. उद्योत और आताप में क्या अंतर है?

48. धर्मद्रव्य के अभाव से विश्व में क्या-क्या अव्यवस्था हो जाती है?

49. अधर्म द्रव्य के अभाव में विश्व में क्या-क्या अव्यवस्था हो सकती है?

50. संपूर्ण द्रव्य कहां रहते हैं?

51. लोक एवं अलोक का भेद क्यों हुआ?

52. आकाश का जो वर्ण हमें नीला दिखाई देता है उसका क्या कारण है?

53. निश्चय काल के अभाव से व्यवहार काल का अभाव क्यों हो जाता है?

54. काल द्रव्य एक दूसरे को स्पर्श करते हुए रहने पर भी बंध को प्राप्त क्यों नहीं होते हैं?

55. अलोकाकाश में कालाणु नहीं है परंतु फिर भी परिणमन कैसे होता है?

56. अस्तिकाय किसे कहते हैं एवं अनस्तिकाय किसे कहते हैं?
57. अस्तिकाय और अनस्तिकाय कौन-कौन से द्रव्य हैं?
58. पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी हुए भी अस्तिकाय क्यों कहते हैं?
59. कौन-कौन से द्रव्यों में कितने-कितने प्रदेश हैं?
60. प्रदेश किसे कहते हैं?
61. एक आकाश प्रदेश में समस्त द्रव्य के प्रदेश कैसे स्थान पाते हैं?
62. चूलिका किसे कहते हैं?
63. विश्व में एक संख्या वाले द्रव्य कौन-कौन से हैं?
64. सक्रिय द्रव्य कौन-कौन से हैं?
65. नित्य द्रव्य कौन-कौन से हैं
66. कर्त्ता द्रव्य कौन हैं?
67. सर्वगत द्रव्य कौन सा है?
68. इस अध्याय से प्राप्त शिक्षायें कौन-कौन सी हैं
69. इस अध्याय से सिद्ध करो कि जैन धर्म एक परम वैज्ञानिक धर्म है?
70. आधुनिक जीव विज्ञान एवं जैन विज्ञान में क्या समानता हैं एवं क्या विषमता हैं?
71. विश्व के हित में जैन दर्शन का क्या-क्या योगदान हैं?
72. इस अध्याय की गाथाओं की क्या विशेषताएं हैं?
73. कौन-कौन से द्रव्य परिणामी हैं एवं कौन-कौन से द्रव्य अपरिणामी हैं?
74. कौन-कौन से द्रव्य क्रियावान है एवं कौन-कौन से द्रव्य अक्रियावान हैं?
75. कौन-कौन से द्रव्य नित्य है एवं कौन-कौन से द्रव्य अनित्य हैं?
76. कौन सा द्रव्य सर्वगत हैं एवं कौन सा द्रव्य असर्वगत हैं?
77. कौन सा द्रव्य कर्त्ता है एवं कौन सा द्रव्य अकर्त्ता है?

विविध विकासवाद

विविध विकासवाद की धार्मिक एवं वैज्ञानिक समीक्षा

(वैज्ञानिक विकासवाद आंशिक सत्य अधिक असत्य)

सुनो–सुनो हे! दुनिया वालों विकासवाद की सच्ची कहानी।
भौतिकता से जैविक तक की तन–मन–आत्मा की अच्छी कहानी।।

''सत् द्रव्य लक्षणम्'' होने के कारण हर द्रव्य अनादि–अनंत होता।
उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्त से परिणमनशील हो स्थित रहता।।

इसी हेतु है अणु से ब्रह्माण्ड जीव–अजीव सब अस्तित्वान्।
नवीन रूप से न उत्पन्न होते विनाश न होते निश्चित प्रमाण।।

तो भी विकास व परिणमन होता स्व–स्वभाव गुण–पर्यायें।
जीव न होता अजीव स्वरूप अजीव न होता जीव रूप से।।

जीव पुद्गल धर्म–अधर्म आकाश काल से षट् द्रव्य जानो।
जीव पुद्गल होते शुद्ध–अशुद्ध अन्य द्रव्य होते सदा ही शुद्ध।।

शुद्ध में शुद्ध विकास होता अगुरुलघुगुण कारण होता।
षड्गुण हानि वृद्धि स्वरूप संख्य–असंख्य अनंत रूप।।

अशुद्ध जीव पुद्गल दोनों विकास करते भिन्न–अभिन्न।
पुद्गल–पुद्गल बंध रूप में जीव–पुद्गल भी बंध रूप में।।

द्विअणुक से अनंत तक पुद्गल बंधते एक–अनेक।
जिससे ब्रह्माण्ड की रचना हुई वायु से सूर्य तक रचना हुई।।

जीव पुद्गल की मिश्रणावस्था जिसे कहते हैं संसारावस्था।
सूक्ष्म निगोदिया से मानव तक क्रम विकास संसारावस्था।।

अनादिकाल से जीव निबद्ध आठों कर्म से निविड़बद्ध।
जिससे संसार भ्रमण होता जन्म–मरण व दुःख सहता।।

द्रव्य-भाव-नोकर्म सहित उत्थान-पतन होता सतत।
निगोद से त्रस पर्याय पाता द्वीन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय (भी) होता।।

नर नारकी व तिर्यञ्च देव पञ्चेन्द्रिय में होता है जीव।
इसी में मानव होता है श्रेष्ठ संसारी जीवों में सर्व उत्कृष्ट।।

श्रेष्ठ भाव जब करे मानव मानव से बने महामानव।
आध्यात्म विकास जब करता मोक्ष प्राप्त कर शुद्धात्मा होता।।

यदि कुकर्म है करे मानव मरकर बने निम्न के जीव।
निगोद तिर्यञ्च नारकी होता उत्थान के बाद पतन होता।

ऐसा ही उत्थान-पतन होता मोक्ष प्राप्ति पूर्व होता रहता।
मोक्ष के बाद न होता पतन परम विकास मोक्ष ही जान।।

अतएव आत्म विकास करो मानव जन्म को सार्थक करो।
भौतिक विकास परे भी सोच 'कनकनन्दी' का यह प्रयास।।

अनादि अनन्त काल में ब्रह्माण्ड के प्रत्येक जीव भौतिकता से संश्लेषित होकर जन्म, जीवन, प्रजनन, भोजन, मरण, सुख-दुःख, जानना, मानना, अनुभव करना आदि करने से अधिकांश धर्म, दर्शन, विज्ञान, नीति, नियम, कानून, परंपरा, लेन-देन, मूल्यांकन, उदाहरण तथा उसे मानने-प्रयोग करने वाले भी भौतिक प्रधान होते हैं। इसलिए तो सूक्ष्म जीवाणु-रोगाणु से लेकर चतुरिन्द्रिय जीव तथा पञ्चेन्द्रिय में उन्नत प्रजाति के प्राणी मानव में भी अधिकांश मानव भौतिकवादी, भौतिकप्रेमी, भौतिक तृष्णा वाले, भौतिकता के लिए अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, चोरी, मिलावट, शोषण, आक्रमण, हत्या, युद्ध करने वाले हैं। भारतीय दर्शन में चार्वाक दर्शन, पाश्चात्य दर्शन, आधुनिक दर्शन ही भौतिकवादी नहीं हैं। परंतु आध्यात्मवाद का ढोंग करने वाले भी चार्वाक आदि के समान भौतिकवादी हैं। इतना ही नहीं कुछ ढोंगी आध्यात्मवादी तो भौतिकवादी वैज्ञानिकों से भी अधिक अनैतिक भाव-व्यवहार करते हैं। ***(आचार्य कनकनन्दी)।***

''षट्द्रव्यमय वैश्विक व्यवस्था एवं मोक्षावस्था''

करता हूँ वर्णन द्रव्यरूपम्, गुण व पर्याय युक्त रुपम्।। (टेक)

उत्पाद द्रव्य व ध्रौव्य रूपम्, अनादि-अनन्त सत्यरूपम्।
अकृत्रिम अविनाशी रूपम्, अस्तित्व वस्तुत्व गुण रूपम्।।
द्रव्यत्व ज्ञेयत्व प्रदेशत्व अगुरुलघुत्व चेतनत्व।।

अचेतन व मूर्त रूपम्, अमूर्तत्व आदि बहुरूपम्।
जीव है चेतनमय रूपम्, ज्ञान-दर्शन व सुख रूपम्।
वीर्यत्व व अव्याबाध रूपम्, सूक्ष्मत्व व अमूर्त रूपम्।।

पुद्गल अचेतन रूपम्, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण युक्तम्।
धर्मद्रव्य अमूर्त रूपम्, गतिहेतुभूत अचेतनम्।
अधर्मद्रव्य अचेतनम्, स्थितिहेतुभूत सार्वभौमम्।।3।।

आकाश है सर्वव्यापी द्रव्यम्, अवगाहनहेतु अचेतनम्।
कालद्रव्य है अचेतनम्, परिणमनत्व हेतुभूतम्।
षड्द्रव्यमय यह विश्वम्, सत्य सनातन सत्य रूपम् ।।4।।

कर्मबंध से युक्त जीव संसारी विमुक्त मोक्ष रूपम्।
राग-द्वेष-मोह बन्ध रूपम्, इसी से विमुक्त मोक्ष रूपम्।
बंध है विविध दुःख रूपम्, विमुक्त अनन्त सुख रूपम्।।5।।

यह है विश्व का सार तत्त्व, आत्म-परमात्म व निज तत्त्व।
गहन व्यापक सूक्ष्म तत्त्व, सर्वज्ञ प्रणीत सर्व तत्व।
'कनक' का लक्ष्य मोक्षभूत/ (रूप), उसी हेतु ही दत्तचित्त।।6।।

''विश्व की व्यवस्था''

(रागः सुनो-सुनो ऐ दुनियाँ वालों...)

सुनो-सुनो हे! दुनियाँ वालों विश्व-व्यवस्था की सही पद्धति।
जिसे सुनकर तुम जानोगे विश्व-व्यवस्था की उच्च पद्धति।।ध्रु।।

विश्व है अनादि अकृत्रिम मय, अविनाशी षट् द्रव्य प्रमाण।
परिणमनशील है सतत जानो, उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त भी मानो।।1।।

जीव पुद्गल धर्म-अधर्म, आकाश काल षट् द्रव्य ही जानो।
जीव तो चेतनामय ही जानो, शेष द्रव्य अचेतन ही मानो।।।2।।

जीव पुद्गल होते अशुद्ध-शुद्ध, शेष द्रव्य होते सदा ही शुद्ध।
मूर्तिक होता पुद्गल जानो, शेष द्रव्य तो अमूर्त मानो।।3।।

कर्म पौद्गलिक युक्त संसारी, व्यवहार से होते मूर्तिक सम।
तथापि शुद्ध निश्चय दृष्टि से, अमूर्तिक है संसारी जीव।।4।।

शुद्ध जीव तो अमूर्तिक होते, स्पर्श रस गन्ध वर्ण रहित।
इन्द्रिय तथा यंत्रों से ज्ञात, हर वस्तु तो पुद्गल/(को) मूर्तिक मानो।।5।।

जीव पुद्गल गति-शक्ति युक्त, शेष द्रव्य गतिरहित होते।
गति-क्रिया युक्त दोनों द्रव्यों को, धर्मद्रव्य सहायक भी होता।।6।।

हर द्रव्य परिणमनशील, शुद्ध या अशुद्ध होने पर भी।
इसी के लिए काल निमित्त, निश्चय व्यवहार दोनों भी।।7।।

आकाश देता अवकाश है, पाँचों द्रव्यों को तथा स्वयं को।
अवकाश जहाँ पाँचों द्रव्यों का, लोकाकाश कहे उसी भाग को।।8।।

लोकाकाश सम धर्म-अधर्म, असंख्य प्रदेश एक जीव के।
अनन्त प्रदेश आकाश के होते, अनन्त होते जीव लोक के।।9।।

जीव से भी अनन्त गुणा, पुद्गलाणु होते पूर्ण लोक के।
धर्म-अधर्म तथा आकाश, एक-एक द्रव्य होते लोक/(विश्व) के।।10।।

लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण, कालाणु द्रव्य होते लोक के।
हर कालाणु तो पृथक्-पृथक्, स्थित रहते हैं शुद्ध रूप से।।11।।

कालाणु से परिणमन होता, लोक तथा अनन्त अलोक।
लोक आकाश के केंद्र में स्थित, लोक परे अनन्त अलोक।।12।।

लोकाकाश के मध्य में स्थित, त्रसनाली जहाँ रहते त्रस।
इसी से परे त्रस न रहते, सर्वत्र लोक में स्थावर वास।।13।।

सूक्ष्म स्थावर सर्वत्र भरे हैं, निर्बाध रूप से बिना आधार।
बादर स्थावर निवास करते, जहाँ उनको मिले आधार।।14।।

त्रसनाली के सर्व निम्न में, निवास करते नित्य निगोद।
निगोद से निकलकर जीव, त्रस बनकर करे संचार।।15।।

चारों गति में भ्रमण करते, चौरासी लाख योनी मध्य में।
द्रव्य क्षेत्र काल भाव को पाकर, विकास करते क्रमाक्रम से।।16।।

सम्यग्दृष्टि जो होते जीव, करते विकास आत्म दृष्टि से।
जिससे परम विकास के द्वारा, सिद्ध अवस्था को पाते अन्त में।।17।।

इनसे भिन्न अन्य जीवों के, उत्थान पतन होते अनन्त।
त्रस अवस्था के अन्त में पुनः, निगोद जन्म मिले अनन्त।।18।।

अनन्त जीव सिद्ध भी हुए, अनन्त हैं नित्य निगोद मध्ये।
चतुर्गति में भी अनन्त जीव, अक्षय अनन्त ब्रह्माण्ड मध्ये।।19।।

नवीन जीवों की न उत्पत्ति होती, नाश न होता है कभी जीवों का।
देह की उत्पत्ति तथा विलय, होता रहता है बन्ध जीवों का।।20।।

देह तो भौतिक इसकी उत्पत्ति, होना संभव है रसायनों से।
जीव अमूर्तिक अकृत्रिम सत्य, सम्पूर्ण भिन्न है रसायनों से।।21।।

अनन्त गुण पर्याय युक्त, हर द्रव्य होते शक्ति रूप से।
अन्य द्रव्यों से निमित्त पाकर, कार्य करते हैं व्यक्त रूप से।।22।।

वट बीज यथा निमित्त पाकर, विशाल वृक्ष होता क्रम से।
तथाहि द्रव्य निमित्त पाकर, विश्वरूप धरे निज शक्ति से।। 23।।

इन्हीं कार्य कारण द्वारा, ब्रह्माण्ड की हर व्यवस्था होती।
'कनक' स्व-शक्ति विकास द्वारा, शुद्धात्मा प्राप्ति में सतत रति।।24।।

''सत्य परमेश्वर का विश्वरूप एवं स्व-परम सत्य''

(रागः 1. कसमें वादे प्यार... 2. संसार है इक नदिया...)

सत्य ही है सनातन... सत्य सर्वस्य/(सबका) आधार।
सत्य शिव सुंदर है... सर्व धर्म आधार।।ध्रु.।।

सत्य का ही विश्वरूप... द्रव्य-गुण-पर्याय।
जातनाश ध्रौव्य भी है... लोकालोक सम्पूर्ण (चराचर ब्रह्माण्ड)।। (1)

जीव का पुद्गल धर्म... काल अधर्म आकाश।
चेतना चेतनमय... मूर्तिक तद् विपरीत।। (2)

शुद्धाशुद्ध सर्व द्रव्य... बन्धन मुक्त द्वय द्रव्य।
दृश्यमान अदृश्य भी... अक्षमन परे द्रव्य।। (3)

दार्शनिक ज्ञाताज्ञात... वैज्ञानिक ज्ञाताज्ञात।
गणधर ज्ञाताज्ञात... सर्वज्ञाता द्वारा ज्ञात।। (4)

आत्मा-परमात्मा सर्व... ब्रह्माण्ड में स्थित सर्व।
परमाणु महास्कन्ध... सत्य मय तत्त्व सर्व।। (5)

सत्य ही सर्वोच्च सत्ता... सत्य ही परमेश्वर।
सत्य अतिरिक्त सर्व... अस्तित्व रहित शून्य।। (6)

सत्य ही परम ज्ञेय... निज सत्य उपादेय।
स्वात्म तत्त्व अतिरिक्त... अन्य सर्वत्यजनीय।। (7)

चिदानन्दमय आत्मा... स्वयं पूर्ण अन्य शून्य।
'कनक' परम ध्येय... ज्ञानानन्दमय स्वयम्।। (8)

अणु हमें शिक्षा देता

(अनन्त शक्ति सम्पन्न परमाणु से परमात्मा तक)

(तर्जः 1. हो दीनबन्धु श्रीपति... 2. छोटी-छोटी गैया...)

अणु हमें शिक्षा देता बनो है शुद्धात्मा, निर्बन्ध बनकर बनो है सिद्धात्मा... (टेक)...

बन्ध से आत्मवीर्य तो क्षीण होता है, निर्बन्ध से आत्मवीर्य (तो) विस्फोट होता है।

एकला ही अणु में गुण है अनन्त, एकला भी तुम बनो प्रगटे गुण अनन्त।
एकला के निमित्ते तुम बनो है शुद्ध, शुद्ध बनने के लिए तुम बनो है सिद्ध।

सिद्ध होने पर अणु समगति भी होगी, प्रति समय में चौदह राजू गति भी होगी।

एक समय में लोकाग्र (का) निवास होगा, सच्चिदानन्द स्वरूप ध्रुव भी होगा।

अछेद्य अभेद्य अखंडित अदृश्य होगा, अमूर्तिक ज्ञानानन्द रूप भी होगा।
अव्याबाध स्वयंपूर्ण गुण सूक्ष्मत्व होगा, अनन्त शक्ति का अखण्ड पिण्ड भी होगा।

अणु सम अणु ही यथा जो होता है, सिद्ध सम सिद्ध भी तथा ही होता है।
अनुपम अद्वितीय अतुलनीय भी होगा, 'कनकनन्दी' का लक्ष्य पूर्ण तब ही होगा।

आकाश हमें सिखाता है

(तर्जः अच्छा सिला दिया तूने...,
2. छोटी-छोटी गैया..., 3. दुनियाँ में रहना है तो...)

नभ हमें सिखाता है व्यापक बनते चल, निर्लिप्त भाव से सदा कर्त्तव्य कर।
अबाधक गुण हमें आकाश सिखाता, विराट बनो पर को बाधा दिये बिना।
(टेक/स्थायी)

नीला रंग आकाश का जो आभास होता है, संसार में कर्मयुक्त अमूर्तिक आत्मा है।
ब्रह्माण्ड को स्थान दे अकम्प होता है, गुणों के सद्भाव से बने अदम्भ है।।
... (1)...

बादल बिजली से अप्रभावित नभ है, सम्पत्ति विपत्ति से अप्रभावी बनो है।
लोक–अलोक में आकाश व्याप्त है, ज्ञान में स्व–पर–विश्व व्याप्त बनो है।।
... (2)...

सर्वत्र आकाश व्याप्त किसी के न अधीन, उदार पुरुष बनो किसी के न आधीन।
अनन्त आकाश हमें शिक्षा देता है, क्षुद्रता को त्याग कर अनन्त बनो है।।
...(3)...

उदारता भाव से ही व्यापक बनो रे, घमण्ड की संकीर्णता सर्वथा छोड़ रे।
अनन्त चतुष्टय तो तेरा स्वरूप है, 'कनकनन्दी' तुम विभाव छोड़ है।।
...(4)...

धर्म–अधर्म द्रव्यों का वर्णन

(गति–स्थिति सहायक द्रव्यों का वर्णन)

(रागः 1. आधा है चन्द्रमा..., 2. सुनो–सुनो ऐ दुनिया...)

करता हूँ वर्णन... धर्म द्रव्य गति–स्थिति निमित्त अधर्म द्रव्य।। (ध्रुवपद)

लोकाकाश व्यापी हैं दोनों द्रव्य... अमूर्त अजीव शुद्ध द्रव्य।
अनादि अनिधन अस्ति रूप... वस्तुत्व अगुरुलघु युक्त।
उत्पाद व्यय व ध्रौव्य रूप... अनन्त गुण पर्याय युक्त।। (1)

जीव–पुद्गल जब गति करे... धर्म द्रव्य सहायक बने।
यथा रेल गमन जब करे... रेल पटरी सहायक बने।
प्रेरक निमित्त नहीं कदा... उदासीन निमित्त बने सदा।। (2)

जीव–पुद्गल स्थिति जब करे... अधर्म सहायक बने।
रेलगाड़ी जब स्थिरता धरे... रेल स्टेशन सहायक बने।
बलात् किसी को नहीं रोके... उदासीन निमित्त सदा बने।। (3)

परमाणु वर्गणा तथा स्कन्ध... संसारी जीव या जीव शुद्ध।

वायु-जल-यान-वाहन-गति... सूर्य-चंद्र-निहारिका गति।
विद्युत् संचालन रक्त गति... धर्म द्रव्य सहायक श्वासगति।। (4)

उक्त गति सहित होती स्थिति... अधर्म सहायक ऐसी स्थिति।
यदि दोनों अस्तित्व में न होते... उपरोक्त कार्य भी न होते।
दोनों सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात द्रव्य... 'कनकनन्दी' माने दोनों द्रव्य। (5)

काल की आत्मकथा

(ब्रह्माण्ड एवं प्रतिब्रह्माण्ड के परिणमन के काभ्त्भूत काल)

(चालः 1. जीना यहाँ मरना यहाँ..., 2. जिया बेकरार है...)

काल मेरा नाम है, परिणमन काम है।
निश्चय व व्यवहार, दोनों भी मेरे नाम हैं।। (ध्रुवपद)

स्पर्श रस गंध रहित मेरा रूप है।
अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व, द्रव्यत्व मेरा रूप है।।
अगुरुलघु गुण आदि अनन्त अमूर्त्त रूप है।
उत्पाद व्यय ध्रौव्यमय भी/(ही) निश्चय मेरा रूप है।। (1)

लोकाकाश के हर प्रदेशों में, रत्नरूप में स्थित हूँ।
असंख्यात कालाणु रूप में, अबन्धरूप में स्थित हूँ।।

परिणमन में सहायक होता, उदासीन रूप से।
जीवाजीव मूर्तिक-अमूर्तिक, परिणमन होते मुझसे।। (2)

वर्तना परिणाम क्रिया, परत्वापरत्व रूप में।
मेरा लिंग/(चिह्न) प्रगट होता, हर द्रव्य के गात्र में।।

भौतिक रूप के परिणमन से (मेरा), व्यवहार रूप प्रगट होते।
समय घड़ी दिन-रात, ऋतु-अयन प्रगट होते।। (3)

वर्ष युग व काल परिवर्तन, व्यवहार रूप प्रगट होते।
उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी, छह-छह भेद में प्रगट होते।।

मन्दगति से जब परमाणु, गमन करता प्रदेशान्तर।
निकटतम प्रदेश तक, यह काल है समयप्रवर।। (4)

यह समय है अतिसूक्ष्म, माइक्रोसेकेण्ड से छोटा।
सेकेण्ड से असंख्यात भाग, यह समय है परम छोटा।।

यहां से प्रारंभ हो निमेष काष्ठा, कला मुहूर्त्त अहोरात्र।
पल्य सागर युगपरिवर्तन, अनन्त भूत भविष्य तक।। (5)

मेरे अभाव में न होगा वर्तन/(परिणमन), हर द्रव्य कूटस्थ होगा।
जन्म-मरण वृद्धि-ह्रास, छोटा-बड़ा कुछ न होगा।

उत्पाद व्यय ध्रौव्य न होगा जिससे द्रव्यों का नाश होगा।
द्रव्य अभावे विश्व न होगा, सर्वथा शून्यमय होगा।। (6)

मैं अति सूक्ष्म अति व्यापक, लोकालोक में मेरा काम।
अनन्त अलोक परिणमन (भी) में, मेरा होता परोक्ष काम।।

मैं हूँ काल महाकाल, (मैं) किसी के वश में न होता।
द्रव्य क्षेत्र काल भाव में, मेरा भी योगदान होता।। (7)

हर द्रव्य स्व-शक्ति से जब, परिणमन है करता।
मैं केवल उदासीन रूप से, उसका सहयोग करता।।

अतः मैं किसी का न कर्त्ता, नहीं होता हूँ मैं भोक्ता।
जो जैसा परिणमन करता, उसका वह बनता भोक्ता।। (8)

मेरा स्वरूप का 'कनकनन्दी', वर्णन किया अति संक्षेप।
जो अपना विकास चाहो, प्राप्त करो निज शुद्ध स्वरूप।।

काल मेरा नाम है, परिणमन काम है
निश्चय व व्यवहार, दोनों भी मेरे नाम है।। (9)

Master Theory

Unified theory of universe (Theory of every-thing)

''अनेकान्त वन्दन (स्याद्वाद का स्वरूप)''

(Theory of relativity- सापेक्ष सिद्धांत, एकीकृत सिद्धांत)

तर्ज–1. बिना गुरु ज्ञान नहीं..., 2. चालीसा..., 3. मन तड़पत हरिदर्शन को...।

विश्व गुरु अनेकान्त से, हो व्यापक विचार,
लोकालोक में व्याप्त है, जिसकी महिमा अपार।

एकान्तवादी तुम जगो, करलो अपना सुधार,
सापेक्षवाद सतवाद से, हो जाओ भव पार।

हे अनेकान्त सत्य स्वरूप, हे सनातन विश्व स्वरूप,
जीव–अजीव में व्याप्त स्वरूप, समस्त नय प्रमाण स्वरूप।

लोकालोक में व्याप्त रूप, मूर्तिक अमूर्तिक तेरा स्वरूप।
एकानेक व अनन्त रूप, सर्वव्यापी है शिव स्वरूप।।

उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य रूप, खण्ड विखण्डित एक स्वरूप,
अस्ति–नास्ति अव्यक्त रूप, सप्तभंग मय तेरा रूप।

सर्वत्र व्याप्त है तेरा रूप, सार्वभौम है नित्य स्वरूप,
बन्ध मोक्ष भी तेरा रूप, सापेक्षवाद है तेरा स्वरूप।।

निरापेक्ष है मिथ्या रूप, सापेक्ष दृष्टि सत्य स्वरूप,
तेरी कृपा से होता सम्यक्, मिथ्यात्व है तुमसे पृथक्।

तेरो वियोगे अनन्त भव, जन्म–मरणे दुःख ही भोग,
कुवाद समस्त नाशन कर्त्ता, समाधान के तुम हो भर्त्ता।।

तुम बिन है न लौकिकाचार, तुम बिन है न सदाचार,
तुम बिन है सब तर्क–कुतर्क, तुम बिन है स्वर्ग भी नर्क।

तुम बिन है न न्याय प्रणाली, तुम बिन है न कार्य प्रणाली,
तुम बिन है न सम्यक् मार्ग, तुम बिन न है न मोक्षमार्ग।

तुम तो आदि अन्त रहित, सर्व सत्य में सर्वत्र व्याप्त,
चेतन में तुम चेतन रूप, अचेतन में उसी ही रूप।

सर्वज्ञ द्वारा तुम सुज्ञात, सुदृष्टि द्वारा तुम पूजित,
तुम्हें न माने मिथ्यादृष्टि, तुम बिन न चलती है सृष्टि।।

सूर्य न देखे जन्मान्ध व्यक्ति, अज्ञानी न जाने तुम्हारी शक्ति,
'कनकनन्दी' के साध्य-साधन, तुमसे ही मैं होता हूँ धन्य।
त्रैलोक्यनाथ के शासन तन्त्र, तुम्हें नमूँ मैं हे विश्वतंत्र।।

अनेकान्त-स्याद्वाद का स्वरूप

सर्वोदयी-विश्वशान्तिकर अनेकान्त एवं स्याद्वाद

(रागः 1. रघुपति राघव..., 2. यमुना किनारे..., 3. सायोनारा...)

अनेकान्त सिखाता है व्यापक बनो... (हर) गुण-पर्यायों की सूक्ष्मता जानो
स्याद्वाद सिखाता है सत्यवादी बनो... हित-मित-प्रिय सत्य बखानो।

हर द्रव्य में होते अनन्त गुण... अतएव हर द्रव्य अनेकान्त पूर्ण।
तथा ही हर कार्य अनेकान्तमय... अनेक कारणों से होता कार्यमय/(तन्मय)

(हर) प्रदेश आकाश में होती अनेक दिशा... चार या दश भी होती है दिशा।
तथा ही अणु की (भी) होती दश दिशा... अविभागी अणु की होती दश दिशा/(यह दशा)

अनन्त आकाश की (भी) होती दश दिशा... विश्वगुरु अनेकान्त देता यह शिक्षा।
एक जीव में होते अनन्त गुण... अतएव एक जीव अनन्त भिन्न।।

अनन्त सिद्ध एक समान होते... समान अपेक्षा एक भी होते।
अपेक्षा से बारह भेद भी होते... क्षेत्र काल गति लिंगादि से होते।।

संसारी-मुक्त भी नहीं है भिन्न... शुद्ध नय द्रव्य अपेक्षा प्रमाण।
कर्म अपेक्षा अनन्त है भिन्न... मार्गणा गुणस्थान अपेक्षा विभिन्न।।

ऐसा ही हर द्रव्य-गुणों में मानों... संकीर्ण दुराग्रह भाव को हनो।
ताना-बाना मय यथा होता है वस्त्र... तथा ही हर कार्य द्रव्य अशेष।।

अनेकान्त से होता व्यापक ज्ञान... उदार सहिष्णु निष्पक्ष ज्ञान।
जिससे भाव भी होता तन्मय... आचरण भी होता तथा तन्मय।।

अनेकान्त की अभिव्यक्ति स्याद्वाद... सप्तभंगमय होता स्याद्वाद/(विभेद)।
अस्ति–नास्ति आदि सापेक्ष कथन... शेष धर्मों न करे हनन।।

जीव स्वापेक्षा है अस्तित्ववान्... अजीव अपेक्षा होता नास्तित्ववान्।
दोनों कथन में नहीं विरोध... एकान्तवाद में होता विरोध।।

दश दिशायें न विरोध करती... एक/(हर) स्थान में दशों ही होती।
द्रव्य में अनन्त गुण रहते... विरोधी गुण भी साथ रहते।।
अनन्त गुणों के कथन निमित्त... स्याद्वाद बनता है अनन्त।
अनेकान्त है वैश्विक रूप... भाव–अहिंसामय वस्तु स्वरूप।

दिव्य सन्देश यह तीर्थंकरों का... विश्व कल्याण व सर्वोदय का।
विनाशक यह सर्व द्वंद्वों का... अमोघ उपाय प्रेम–शांति का।।

इसके बिना न सम्यक् होता... व्यवहार या न निश्चय होता।
न होता ज्ञान–आचरण सम्यक्... दृष्टिकोण न होता सम्यक्।।

आइन्स्टीन का हुआ योगदान... सापेक्ष–सिद्धांत माना विज्ञान।
जिससे विज्ञान का हुआ विकास... वैश्विक मान्यता मिली विशेष।।

सदा सर्वदा सर्व स्मरणीय... सदा सर्वदा सर्व आचरणीय।
कथनीय लेखनीय वन्दनीय... 'कनक' द्वारा सदा सेवनीय।।

प्रतिपक्ष (सापेक्ष–अनेकान्त) से पक्ष का

अस्तित्व ज्ञान एवं मूल्यांकन

(रागः छोटी–छोटी गैया..., 2. दुनियाँ में रहना है तो...)

झूठ न हो तो... सच का ज्ञान न होता।
झूठ न हो तो... सच का भान न होता।

झूठ न हो तो... सच का मान न होता।
झूठ न हो तो... सच का भाव न होता। (स्थायी/प्रत्येक पद)

नास्ति न हो तो... अस्ति का भान न होता।
ज्ञेय न हो तो... ज्ञान का मान न होता।

बंधन न हो तो... मोक्ष का भाव न होता।
पाप न हो तो... पुण्य का मूल्य न होता/ (पुण्य भी श्रेष्ठ न होता)

दुःख न हो तो... सुख भी प्रिय न होता।
तम न हो तो... ज्योति का मूल्य न होता।

दुष्ट न हो तो... शिष्ट का मूल्य न होता।
मृत्यु न हो तो... जन्म का भान न होता।

रोग न हो तो... स्वास्थ्य का भान न होता।
छोटा न हो तो... बड़ा का भान न होता।

नीचा न हो तो... ऊँचा का भान न होता।
बायाँ न हो तो... दायाँ का भान न होता।

जीर्ण न हो तो... नया का मूल्य न होता।
जन्य न हो तो... जनक का मान न होता।

पीछे न हो तो... आगे का मान न होता।
फैल न हो तो... पास का मूल्य न होता।

दीनता न हो तो... अहम् का भाव न होता।
स्थिति न हो तो... गति का भान न होता।

प्रतिपक्ष युक्त से ... अस्तित्व भी होता।
दुःख से शिक्षा लोगे तो सुख पाओगे।
सुख में भूलोगे/(बिगड़ेंगे) तो दुःख पाओगे।
दोष से शिक्षा तो लो गुणी बनोगे।
गुणी से घृणा करो तो दोषी बनोगे।
'कनकनन्दी' सबसे शिक्षा ही लेता।
जो शिक्षा लेता वही गुणी बनता।।

श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम सत्य

(विभिन्न प्रकार के सत्य)

(रागः तुम ही मेरा उद्धार करो हे जननी दिव्यवाणी...)
सत्य को जानना सत्य को मानना सत्यमय हो आचार...2
वह ही नैतिक वैचारिक पूर्ण आध्यात्ममय प्रकार...2
सामाजिक सत्य न्याय में स्थित राजनीति में जो मान्य...2
ये सब सत्य है व्यवहार सत्य, व्यवहारे हुए मान्य...2
दार्शनिक सत्य वैचारिक सत्य विचार अधीन सत्य...2
वस्तुनिष्ठ सत्य द्रव्यगत सत्य यह है वैश्विक सत्य...2
आध्यात्मिक सत्य आत्मा में संस्थित, आत्मा की है शुद्धावस्था...2
इसे ही कहते हैं शुद्ध परमात्मा, सच्चिदानंद स्वरूपा...2
उत्तरोत्तर है श्रेष्ठ सत्य जानो, व्यवहार से आध्यात्म...2
आध्यात्म प्राप्ति के हेतु प्रयोजन, यथा सशरीर आत्मन्...2
आध्यात्म सत्य की प्राप्ति के निमित्त त्यजनीय आद्यसत्य...2
यथा तीर्थंकर राज्यादि त्याग के, पाते हैं आत्मिक सत्य...2
सत्य ही परमेश्वर है विश्व में, सत्य में सर्व संस्थित...2
'कनकनन्दी' का सर्वस्व ही सत्य, उसे भजे दिन-रात...2

जैन धर्म में वर्णित महासत्ता एवं अवान्तर सत्ता

(जैन धर्म में वर्णित ब्रह्माण्डीय विज्ञान)

(रागः सत्यं शिवं सुंदरम्... अजी रूठकर...)

सत्य ही द्रव्य है, ऽऽ द्रव्य में गुण है आ आ पर्यायमय द्रव्य है ऽऽ
जागो ऽऽऽ द्रव्य को देखो, षड्द्रव्यमय विश्व है ऽऽ
द्रव्य गुण पर्याय हो ओ द्रव्य गुण पर्याय ऽऽऽ... सत्य ही द्रव्य है...
(स्थायी/धत्ता)।

एक ही सत्य है, परम सत्ता लोकालोक में सत्ता
सर्वज्ञदेव ने इसे देखा...2
कण कण में है व्यापा... स्वतंत्र अपनी सत्ता ऽऽऽ... द्रव्य गुण पर्याय हो ओ (1)

उत्पाद व्यय वाला, ध्रौव्य सहित वाला, अव्यय अविनाशी वाला
अगुरुलघु सदा सत्ता वाला...2
शाश्वत् अकृत्रिम वाला... नित्य ही परिणमन ऽऽऽ... उत्पाद व्यय ध्रौव्यम् (2)

जीव अजीव वाला, षड्द्रव्य वाला, चेतन अचेतनवाला ऽऽ
लोक अलोक में है व्याप्त...2
मध्य में मनुष्य लोक वाला... स्वर्ग नरक वाला... ऊर्ध्व में सिद्धशिला... (3)

...द्रव्य गुण पर्याय हो ओ...

कर्म रहित वाला, सच्चिदानंद वाला, त्रैलोक्य दर्शन वाला
आत्मरमण विज्ञान ज्योति वाला...2 ज्ञायक स्वरूप आत्मा... विमुक्त परम आत्मा
चरमध्येय वाला, वीतराग वाला... सिद्धों की जाओ शरण (4)

...द्रव्य गुण पर्याय हो ओ...

अष्ट कर्म बंधनं, विमुक्त चिदान्दं, निजानन्द शुद्ध स्वभावम्

'कनकनन्दी' का स्वभावम्..2 प्रत्येक जीव का भावम्
अंतिम स्वशरणम्, स्वयं में स्वरमणम्... सच्चिदानन्दभावम् (5)

...द्रव्य गुण पर्याय हो ओ...

जैन धर्म में वर्णित एकीकृत सिद्धांत

शाश्वतिक परिणमनशील स्थायित्व द्रव्य (सत्य)
(परिणमनशील सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड)

(रागः सत्यं शिवं सुंदरम्... ''उत्पाद व्यय ध्रौव्युक्तं सत्'' सूत्र संबंधी कविता...)

उत्पाद ही व्यय है... व्यय ही द्रव्य संग्रहउत्पाद है... ध्रौव्य उभय है... ऽऽऽ
जानो द्रव्य को मानो... तीनों मय ही सत्यम् ऽऽऽ
उत्पाद व्यय ध्रौव्यंऽ... हो.. ओ.. उत्पादव्यय ध्रौव्यं...2... तीनों ही द्रव्य है...(स्थायी)

उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्, तीनों ही पृथक्-पृथक्
अनेकान्त से सिद्ध है..2 प्रत्येक द्रव्य में व्याप्त...
अगुरुलघु से व्याप्त... उत्पाद व्यय ध्रौव्यम्..2 (1)

वैश्विक सत्य है संपूर्ण द्रव्य में युक्त, आगम युक्ति से युक्त...
सूक्ष्म स्थूल में भी है व्याप्त... 2 मूर्ति अमूर्ति सहित...
शुद्ध-अशुद्ध संयुक्त... त्रिकाल घटित सत्य... उत्पन्न विगम स्थितम्... (2)

संसारी-मुक्त निहितं... जन्म-मरण ध्रुवत्वं.. कर्म विनष्ट सिद्धत्वम्...
कटक केयूर काञ्चनम्...2 त्रय में कनक युक्तम्...

हर्ष–विषाद माध्यस्थं... त्रय दृष्टि युक्त ग्राहकम्... भिन्नाभिन्न समन्वितम् (3)

सत्य न उत्पाद व्ययं, पर्याय दृष्टि युक्तं, द्रव्य ही शाश्वत् सत्यम्...
द्रव्यमय है सर्व लोकम्...2, 'कनकनन्दी' में युक्तम्...
सिद्धांत एकीकृतं.. वैश्विक परम सत्यं... लोकालोक व्याप्तम्... उत्पन्न विनष्ट स्थितम् (4)

मोक्षमार्ग एवं मोक्ष

(सम्यकदर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः सूत्र की व्याख्या)

(रागः सत्यं शिवं सुंदरम्)

दर्शन से ज्ञान है, ज्ञान से चरित्र है, सम्यक्त्व संयुक्त है
जानो ऽऽऽ तीनों को मानो, तीनों से मिलता निर्वाण है ऽऽऽ
दर्शन ज्ञान चारित्रं... हो ओ दर्शन ज्ञान चारित्रं, त्रयस्वरूप ही मोक्षम् (टेक)

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रं... मोक्षमार्ग स्वरूपम्
दर्शन ज्ञान चारित्र युक्त मोक्षमार्ग...2 पूर्णता से ही है मोक्ष
सम्यग्दर्शन से प्रारंभ... चारित्र से होता (मोक्ष) सम्पूर्ण...(1)

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्... शुद्धात्मा का होता है श्रद्धानम्
सर्वद्रव्यों से पृथम श्रद्धान...2 आत्म प्रतीती है श्रद्धानम्
इससे होता है सम्यग्ज्ञान... जिसे कहते हैं परमज्ञान... हो ओ चारित्र सच्चा निदान ... (2)

तीनों की उत्पत्ति जीव में जानो... विकास करता जीव में मानों
इससे होता पूर्ण निर्वाण...2 दुःख भी होते नाश (सम्पूर्ण)
आत्मगुण होते सम्पूर्ण...2 यह (ही) होता परिनिर्वाण.. (3)

कनकनन्दी का परम लक्ष्य... जीव बनता परम साक्ष्य...
अक्षय अनन्त परम सौख्यम्... दर्शन ज्ञान चारित्र रूपम्...

ब्रह्माण्ड की कहानी

(ब्रह्माण्डीय व्यवस्था/प्रबंध)

(तर्जः सुनो–सुनो रे ऐ दुनियाँ वालों...)

आओ बच्चों तुम्हें सुनाऊँ, ब्रह्माण्ड की सच्ची कहानी।
सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात जीवनी, आचार्य द्वारा लिखी कहानी ।।टेक।।

विश्व अकृत्रिम शाश्वत जान, अनादि अनिधन द्रव्य प्रमाण।
कर्त्ता–धर्त्ता व हर्त्ता न कोई, उत्पाद व्यय ध्रौव्य सो होई।।

षट् द्रव्यमय लोक प्रमाण, इससे परे है अलोक जान।
तीन सौ तैतालिस घन राजू जान, लोक का घनफल है प्रमाणं।
इससे परे अनन्त आकाश, जिसे कहते हैं आलोकाकाश।
ब्रह्माण्ड व प्रतिब्रह्माण्ड जानो, विज्ञान अपेक्षा परिभाषा मानो।।

जीव पुद्‌गल धर्म–अधर्म, काल व आकाश षट् द्रव्य जानो।
आकाश द्रव्य के मध्य में जानो, पंच द्रव्य का अवस्थान मानो।।

उसे कहते हैं लोकाकाश, उससे बाहरे अलोकाकाश।
लोक के तीन प्रभेद जानो, ऊर्ध्व मध्य और अधो मानो।।

सर्वोच्च ऊर्ध्व में सिद्ध विराजे, उसके नीचे देव विराजे।
मध्य लोक में मानव तिर्यञ्च, उसके ऊपर ज्योतिष मंडल।

अधो भाग में नारकी निवास, उसके नीचे निगोद वास।
धर्म अधर्म व्याप्त लोकाकाश, धर्म सहयोगी गमनागमने।।

अधर्म सहयागी स्थिति निमित्त, काल सहयोगी परिणमन निमित्त।
लोकाकाश में जीव अनन्त, अनन्त गुणे पुद्‌गल व्याप्त।

आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेशी, धर्म–अधर्म असंख्य प्रदेशी।
असंख्य कालाणु लोक में स्थित, छहों द्रव्य है अनादि

अनंत।।

जीवों के दो भेद हैं जानो, संसारी जीव और मुक्त मानो।
कर्म से युक्त संसारी जानो, कर्म रहित मुक्त है जानो।।

संसारी जीव के चार विभाग, नरक तिर्यञ्च देव मानव
चौरासी लाख योनी भेद, संसारी जीव के भेद प्रभेद।

कर्मकृत यह भेद-प्रभेद, जन्म-मरण व प्रमोद खेद।
जीवों के भी न कोई कर्त्ता-धर्त्ता, रसायन से न बना है आत्मा।

भावानुसार कर्म संबंध, जिससे जीवों का होता प्रबन्ध।
प्रशस्त भाव से पुण्य बंध, जिससे होता है विकास प्रबन्ध।।

बाह्य द्रव्य क्षेत्र काल जिनोम, इससे प्रभावित विकास क्रम।
बीजानुसारे वृक्ष विकास, कर्मानुसारे क्रम विकास।।

तथापि जीव ना इससे बने, जीव तो चैतन्य भाव से बने।
आत्म विकासार्थे आध्यात्म ज्ञान, आत्मनिष्ठा व सदाचरण।।

समता स्वाध्याय पवित्रभाव, ज्ञान अनासक्ति करुणाभाव।
निर्मलभाव से कर्म से मुक्ति, सच्चिदानंदमय मोक्ष की प्राप्ति।।

ऐसी है बच्चों की विश्व की कथा, चेतन अचेतन मिश्र की गाथा।
तुम भी हो चिदानन्द स्वरूप, 'कनक' को भाये मोक्ष स्वरूप।

गणित मेरा नाम है सबसे बड़ा काम है!

(लौकिक एवं अलौकिक गणित की आत्मकथा)

(तर्ज : 1. पूछा मेरा क्या नाम रे... 2. जीना यहाँ मरना यहाँ...)

गणित मेरा नाम है सबसे बड़ा काम है
संसार के हर काम में सच्चा मेरा मान है।

मैं हूँ व्याप्त लोक-अलोक में हर द्रव्य में मैं हूँ
केवलज्ञान के बाद मैं ही सबसे बड़ा मान हूँ।।.. टेक/स्थायी...

सत् के बाद मेरा स्थान सत् का मान मैं हूँ।
सत् को मापने वाला सजग गणक/(प्रहरी) भी हूँ।

क्षेत्र काल भव अल्पबहुत्व मापने वाला हूँ,
स्पर्शन अंतर परिणाम को मैं बताने वाला हूँ।। गणित।।.. (1)

मेरे प्रमुख दो भेद हैं लौकिक अलौकिक नाम से,
लौकिक है लोक प्रचलन सामान्य गणना नाम से।

(लोकोत्तर)/अलौकिक है लोक से परे विशेष गणना नाम से,
संख्यात तक लौकिक मान अंक बीजादि नाम से ।। गणित।। .. (2)

मतिज्ञान व श्रुतज्ञान का विषय संख्यात मान है,
कृत्रिम वस्तु की गणना में अधिक इसका काम है।

एक आदि से संख्यात तक क्षेत्रादि लौकिक मान है,
लोक व्यवहार प्रचलन हेतु अधिक इसका काम है।। गणित।।... (3)

संख्यात असंख्यात अनन्त तक अलौकिक मान का काम है,
अवधि मनःपर्ययज्ञानी ज्ञात् असंख्यात मान है।

केवलज्ञानी सब कुछ जाने अनन्त तक मान है
अनन्तज्ञानी बिना न जाने अनन्त तक मान है।। गणित।। ... (4)

परमाणु से मान प्रारंभ जघन्य मान जान है,
अक्षय अनन्त केवलज्ञान उत्कृष्टतम मान है।

पुद्गल अणु द्रव्यमान है क्षेत्र है आकाश प्रदेश
समय प्रमाण काल मान है अनुभाग प्रतिच्छेद विशेष।। गणित।। .. (5)

चेतना के अनुभाग प्रतिच्छेद भाव जघन्य मान है,
चारों जघन्य मान से प्रारम्भ ब्रह्माण्ड के हर मान है।
चारों मान के उत्कृष्टतम है अनन्तानन्त मान,
अन्तिम उत्कृष्ट केवलज्ञान सर्वमान के प्रमाण।। गणित।।... (6)

केवलज्ञान सर्वज्ञ ज्ञान सर्वमान का है प्रमाण,
मतिश्रुत अवधि मनःपर्यय यथायोग्य भी है प्रमाण।

सम्यक् ज्ञानों से ज्ञात है मान सम्यक्मान प्रमाण,
सही मान से निर्णित मेरा सत्य-तथ्य प्रमाण।।गणित।। ... (7)

गणित से ही विज्ञान जन्मा व्यापार शिल्प व कला,
गणित से ही मापा/(जाना) जाता है ब्रह्माण्ड रहस्य सारा।

संसार चक्र, कर्म सिद्धांत द्रव्यों की गणना सारा।
लोक अलोक सूर्य चन्द्रादि गति आगति सारा ।। गणित।। ... (8)

भारत ने दिया विश्व को गणित विज्ञान बना हीरो,
गणित ज्ञान के उपयोग बिना इण्डिया बना है जीरो।

भारत में तो सब में घोटाला प्रमाण का क्या काम है,
जहाँ प्रमाण है वहाँ है गणित घोटाला में क्या काम है ।। गणित।। ... (9)

जिस ज्ञान से भारत है बना विश्व का गुरु कभी
उसी/(मेरे) ज्ञान के तिरस्कार से तिरस्कृत इण्डिया अभी।

अभी तो जागो सुप्त भारत, छोड़ो है घोटाला सभी,
'कनकनन्दी' के आह्वान को प्रमाण करो/(मुझे तो) मानो अभी।।
गणित।। ... (10)

गणित मेरा नाम है सबसे बड़ा काम है
संसार के हर काम में सच्चा मेरा मान है।

प्राचीन एवं आधुनिक वैज्ञानिकों का संक्षिप्त परिचय

(भौतिक वैज्ञानिक से आध्यात्मिक महावैज्ञानिक तक का स्वरूप व फल)

(तर्जः हे गुरुवर धन्य हो तुम...)

हे वैज्ञानिक धन्य हो तुम, कितने शोध करते हो-2
सत्यग्राही बन एकाग्र मन से, सत्य का बोध करते हो।। (टेक)...

क्रम नियमित साधना द्वारा, सत्य का ज्ञान करते हो।
पक्षपात बिना सत्य तथ्य युत, साक्ष्य प्रमाण से करते हो।।

मिथ्या परम्परा जाति क्षेत्र परे, प्राकृतिक नियम पालते हो।
जहाँ सत्य मिले उसे ही मानते, पूर्वाग्रह सब टालते हो।। (1) हे...

कर्मभूमि के आदि काल से, तुम्हारा शोध भी जारी है।
कुलंकर से प्रारंभ होकर, तीर्थंकर महाज्ञानी हैं।।

गणधर ऋषि-मुनि विद्याधरादि, प्राचीन महाविज्ञानी हैं।
यतिवृषभ व धरसेनाचार्य, भूतबली पुष्पदंत सूरि हैं।। (2) हे...

वीरसेनाचार्य नेमीचन्द्राचार्य उमास्वामी अकलंकसूरी हैं।
बराहमिहिर नार्गाजुन तथा, आर्यभट्ट धन्वन्तरी हैं।।

सुश्रुत कणाद वाग्भट्ट महर्षि, महावीराचार्य विज्ञानी हैं।
सत्यग्राही बन एकाग्र मन से, सत्य का बोध करते हो।। (3) हे...

बोधायन पायाथागोरस ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य ज्ञानी हैं।
श्रीधराचार्य उग्रादित्य, पुनर्वसु, हिपोक्रिटिश ज्ञानी हैं।

आत्रेय आदि मध्यकालीनज्ञानी, देश-विदेश के ज्ञानी हैं।
ये नींव पत्थर जिससे बने, आधुनिक शोध विज्ञानी हैं।। (4) है...

गैलीलियो न्यूटन जगदीशचंद्र हैं, ग्राह्मबेल एडिसन पाश्चर।
क्यूरी दम्पत्ति फैराडे आइन्स्टीन है, फर्डिनान राइट ब्रदर।।

नीलबोर्न स्टीफन हाकिंग कोठारी, आधुनिक के विज्ञानाचार्य।
करते सत्य-तथ्य के शोधबोध, स्वपर विश्व कल्याणकर। (5) हे...

आत्मज्ञान युक्त भौतिक ज्ञान से, तेरा होता और अधिक विकास।
भौतिक ज्ञान की संकीर्णता से, तेरा आबद्ध सच्चा विकास।।

इन्द्रिय भौतिक यंत्र से परे, तेरे ज्ञान का नहीं प्रवेश।
इसी कारण जड़ ज्ञान से, घटित होता कभी विनाश।। (6) हे...

युद्ध महायुद्ध प्रदूषण तथा, ग्लोबल वार्मिंग छेद ओजोन।
लाइफस्टाइल पाश्चात्यकरण, कलकारखाना यान-वाहन।।

इत्यादि अनर्थ भौतिकता का, आध्यात्मिकता से होता विनाश।
इसलिए है भौतिक ज्ञानी!, आध्यात्मिक्ता का करो विश्वास।। (7) हे...

आध्यात्मिक बनो भौतिकज्ञानी, धार्मिक बनो सच्चे विज्ञानी।
इसी से स्वपर विश्व कल्याणी, परम विज्ञानी आध्यात्मज्ञानी।।

आध्यात्म विज्ञान सच्चा विज्ञान, वैज्ञानिक धर्म वैश्विक धर्म।
इसी से होता है सर्व विकास, 'कनकनन्दी' का आत्मिक धर्म।। (8) हे...

विज्ञान के अंधकार पक्ष

(विज्ञान के दुरुपयोग से विनाश)

(रागः यमुना किनारे श्याम...)
विज्ञान का दुरुपयोग किया न करो, विनाश शृंखला आरम्भ किया न करो।

सत्य-तथ्य को स्वीकार किया भी करो, यंत्रों का सदुपयोग किया ही करो
दुरुपयोग अतियोग से हानि होती है, ''अति सर्वत्र वर्जयेत्'' नीति होती है ... (टेक)

विज्ञान को अज्ञात है आत्म विज्ञान, परम विज्ञान तथा परिनिर्वाण
आत्म विकास का ज्ञान अभी तो नहीं, आत्मिक शांति का मार्ग जानता नहीं।

परम सत्य व ब्रह्माण्ड में पहुँच नहीं है, स्वयं को भी सही जानता नहीं है... (1)
विनाशक गाथा नागासाकी भी कहता, हिरोशिमा विध्वंस की लीला बतलाता।
विश्वयुद्ध सर्वयुद्ध अंधकार बताते, विज्ञान की विनाशक शक्ति भी बताते
विज्ञान विशेषज्ञान नहीं बताता, विज्ञान विपरीत ज्ञान सिद्ध है करता... (2)

अस्त्र-शस्त्र मारणास्त्र अणुबमादि, जीव विनाशक प्रदूषक जो यन्त्रादि
विषाक्त गैस आदि जो विनाशकारी, पर्यावरण ध्वंसी कल कारखाना भारी
तथा ही यान-वाहन या उद्योग, हिंसा प्रदूषणकारी सर्वअयोग्य ...(3)

जिससे जीवन चर्या होती कृत्रिम, निष्क्रिय आलस्यपूर्ण भोगवादी जीवन
तन–मन रोगकारी आत्म पतन, फैशन व्यसनमय है निम्न जीवन
ऐसा विज्ञान तथा वैज्ञानिक उपकरण, समस्त अहितकारी विशेषज्ञान... (4)

अतः विज्ञान को धर्ममय होना जरूरी, अहिंसा व आध्यात्ममय पर उपकारी
हिताहित विवेकयुक्त सत्य पुजारी, वैश्विक दृष्टि सम्पन्न विकासकारी
''कनकनन्दी'' भावना भाये हितकारी, आध्यात्म विज्ञान को सर्वोपकारी/
(गुणकारी) (5)

विज्ञान की उज्जवल गाथा

(विज्ञान का वरदान)

(राग– सुनो–सुनो हे! दुनियाँ वालों, विज्ञान की उज्जवल गाथा)

सुनो–सुनो हे! दुनियाँ वालों, विज्ञान की उज्जवल गाथा
जिसे सुनकर तुम्हें ज्ञात होगी विज्ञान की पवित्र आत्मा/(वरद गाथा)... (टेक)

संकीर्णता व रूढ़िवादिता को दूर करती है विज्ञान–यात्रा
सत्य–तथ्य पूर्ण क्रमबद्धता ही विज्ञान की पवित्र–आत्मा... (1)

पन्थ, परंपरा, जाति, राष्ट्र की सीमा से परे है विज्ञान दृष्टि
सर्व जीवों की हितसाधना में प्रगतिशील है विज्ञान सृष्टि... (2)

अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक की खोज में रत है विज्ञान–रुचि
जीव जगत् व ब्रह्माण्ड–रहस्य के शोध–बोध में सदा प्रवृत्ति... (3)

रोग निवारण दीर्घ जीवन व सुख साधन रत विज्ञान वृत्ति
दूरसंचार व एकीकरण में विज्ञान की होती तीव्र प्रवृत्ति... (4)

अतिवृष्टि अनावृष्टि महामारी समस्या का करे निवारण
भूखमरी भूकम्प बाढ़ आदि समस्या का करे निस्तारण... 25)

यान–वाहन व कल कारखाना यंत्र आदि का दक्ष निर्माता
सुई से लेकर कम्प्यूटर तथा रॉकेट तक के आप विधाता/(निर्माता) ... (6)

मानव मन से उत्पन्न विज्ञान मानव शक्ति का करे विस्तार
जिससे मानव प्रकृति ऊपर कर रहा है राज्य विस्तार... (7)

जल थल नभ राज्यों के राज का कर रहा है सूक्ष्म विचार
उससे प्राप्त राज के बल पर कर रहा है विश्व सञ्चार... (8)

पर्यावरण की सुरक्षा निमित्त विज्ञान का हो रहा विकास
जिससे प्रत्येक जीव हितार्थे नवीन ज्ञान का हुआ प्रकाश... (9)

भौतिक शक्ति के शोध–बोध से तन–मन का भी बढ़ा है ज्ञान
विचार शक्ति के परिज्ञान हेतु विज्ञान भी देता अद्भुत ज्ञान.. (10)

इत्यादि बहु उपलब्धियों का प्रदाता बना है आज विज्ञान
जिससे मानव बना है उदार प्रगतिशील व उच्च विचार... (11)

जिससे जन्मे हैं वैश्विक एकता शांति मैत्री विचार
कार्य कारण व समन्वय दृष्टि स्व–पर–वैश्विक हित विचार... (12)

वैश्विक संस्थान, विश्व धर्म संसद, राष्ट्रों में होता है बन्धुत्व भाव
वैश्विक सम्बन्ध–सहयोग आदि वैज्ञानिकता से उत्पन्न भाव... (13)

इससे भी परे आत्मिक विकास, संस्कृति के लिए हो रहा प्रयास
भौतिकता परे आत्मा की कल्पना विज्ञान के लिए नया प्रयास... (14)

धर्म के बिना विज्ञान अंधा, पंगु धर्म है विज्ञान बिना
इसी से दोनों का विकास होता, जिससे मानव सुखी भी होता... (15)

'कनकनन्दी' तो प्रयासरत आध्यात्मक विज्ञान का हो विकास
वैश्विक ज्ञान का हो विकास, विश्वशांति में करे निवास... (16)

''चेमतनमय जीवों में भी होते हैं, अनेक अचेतन गुण''

(''द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'' की समीक्षा)

(आगम एवं अनेकान्त की रहस्यपूर्ण कविता)

(रागः 1. इतनी शक्ति हमें..., 2. धन्य हमारे भाग्य जगे...)

जीव में अनन्त होते हैं गुण, प्रमुख होता है चेतना गुण।
चेतन है ज्ञान-दर्शनमय, अन्य गुण है अचेतनमय।। ध्रु.।।

अनेकान्त से होता है सिद्ध, 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' प्रसिद्ध।
हर गुण स्वतंत्र मौलिक होता, द्रव्य आश्रय से निवास करता।। (1)

अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व गुण, अगुरुलघु अव्याबाधत्व गुण।
सूक्ष्मत्व अवगाहनत्व गुण, सामान्य व अचेतनत्व गुण।। (2)

'प्रेमयत्वादिभिर्धमैंरचिदात्मा',अकलंक स्वामी ने कहा।
'ज्ञानदर्शनतस्तस्मात्चेतना', चेतन-अचेतनमय भी कहा।। (3)

नानास्वभाव (होने) से एकानेक (भी) भाव, अचिन्त्य अनन्त विचित्र भाव।
सर्वज्ञज्ञान गम्य यह स्वभाव, आगम वर्णित स्वभाव भाव।। (4)

तथापि जीव न होता अचेतन, चैतन्य अनुश्रुत सम्पूर्ण गुण।
एकक्षेत्रावगाही अनादिनिधन, भिन्न होते संज्ञा संख्यादि लक्षण। (5)

चेतन से ज्ञात होते अन्य गुण, ज्ञान-ज्ञेय भाव आत्मा का गुण।
अस्तित्वादि होते सामान्य गुण, जीवाजीव व्यापी स्वभाव गुण।। (6)

यथा स्वर्श रस गन्ध व वर्ण, पुद्गल के होते प्रमुख गुण।
तथापि स्पर्श रसादि न होता, रस भी स्पर्शादि गुण न होता।। (7)

तथापि पुद्गलद्रव्य में होते, एक ही क्षेत्र में सदा रहते।
तथाहि चेतन-अचेतन गुण, अभिन्न-भिन्न प्रत्येक गुण।। (8)

अतएव कर्म भी विभिन्न होते, दो-तीन आठ संख्यात होते।
असंख्यात आदि अनन्त होते, जीव के अनन्त गुण को ढाक्ते/(नाशते) ।। (9)

अनुजीवी नशते घाती कर्म से, प्रतिजीवी गुण अघाती से नशते।
केवली बनते घाती कर्म नाश से, मुक्त बनते सर्व कर्म नाश से।। (10)

अष्ट/(सर्व) कर्म नाश हेतु हो प्रयत्न, जिससे प्रगट होंगे गुण अनन्त।
इसी हेतु 'कनक' प्रयारसत, सर्व जीव प्राप्त करे मोक्ष।। (11)

''द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः''

का यथार्थ एवं व्यंग्यात्मक कथन

(रागः शत-शत वन्दन...)

''द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'' ... मुझे सिखाता है पाठ अनेक
हर द्रव्य में होते ही है, स्वभाव से गुण अनेक।। ध्रु.।।

एक गुण अन्य गुण न होता... हर गुण स्वतंत्र होता है।
हर द्रव्य में अनन्त गुण... गुणसमूह ही द्रव्य होता है।

अनादिकाल से हर द्रव्य हैं... रहेगा भी अनन्त काल तक।
ऐसा ही है हर गुण रहता... अनादिकाल से अनन्त तक।। (1)

अस्तित्व वस्तुत्व आदि गुण... हर द्रव्य में होते हैं स्थित।
चेतनादि जीव गुण हैं तो... अजीव में अचेतन स्थित।

यह वर्णन आगम कथित है... जो है वस्तु स्वभावगत।
कुछ वर्णन करूँ व्यंग्यात्मक... जिसका वर्णन है निम्नोक्त।। (2)

द्रव्य अर्थात् धन आश्रय से... निर्गुणी भी गुणी होता है।
''सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते''.. लौकिक में देखा भी जाता।

धनवान् निर्गुणी जन भी... समाज राष्ट्र में मान्य होता।
धनरहित सुगुणी जन भी... समाज राष्ट्र में अमान्य/(तुच्छ) होता।। (3)

शरीर रूपी द्रव्य जिसका... सुंदर लचीला होता है।
अश्लील-कामुक नाच-गान से... लाखों लोगों को दास बनाता है।

उसे देखने-सुनने को तो... लाखों की भीड़ उमड़ जाती है।
समय साधन धन खर्च कर... नैतिकता को खोती है।। (4)

हीरो-हीरोईन खिलाड़ी नेता... जो सुगुण से भी रहित होते।
ऐसे निर्गुणी कुजन भी.. सुगुणी से अधिक मान्य भी होते।।

सत्ता-सम्पत्ति प्रसिद्धि डिग्री... मोही मानवों के गुण ही होते।
सत्य अहिंसा क्षमा मार्दव.. आत्मिक गुण भी अमान्य होते।। (5)

षट् द्रव्यसंग्रह नहीं द्रव्यसंग्रह... धनसंग्रह है द्रव्यसंग्रह।
इन कुप्रवृत्ति के कारण ही जीव...संसारचक्र में करे भ्रमण।।

सत्य-तथ्य के परिज्ञान हेतु..'कनकनन्दी' द्वारा यह रचना हुई।
हेय त्याग कर उपादेय गहे... जिनकी मति सुमति हुई।। (6)

''ज्ञान-ज्ञेय-ध्येय-हेय''

(आगम निष्ठ कविता)

(राग : आरती कीजे हनुमान लला की... 2. चौपाई... 3. शत-शत वन्दन ...)

विश्व के चतुर्विध तत्त्व को जानो, ज्ञान-ज्ञेय-ध्येय-हेय को मानो।
ज्ञान स्वरूप है जीव स्वरूप, ज्ञेय स्वरूप है विश्व स्वरूप।

ध्येय स्वरूप है मोक्ष स्वरूप, हेय स्वरूप है अनात्म रूप।
ज्ञेय को जानना ज्ञान-स्वभाव, ज्ञान होता है चेतना रूप।। (1)

सुज्ञान-कुज्ञान ज्ञान के भेद, पाँच व तीन क्रमशः प्रभेद।
सम्यक्त्व सहित होता सुज्ञान, मिथ्यात्व सहित होता कुज्ञान।।

ज्ञेय ध्येय हेय जाने सुज्ञान, अयथार्थ जाने वह कुज्ञान।
ध्येय प्राप्ति में सुज्ञान हेतु, कुज्ञान संसार भ्रमण हेतु।। (2)

जीव-अजीव होता है ज्ञेय, ज्ञान भी होता है स्वयं भी ज्ञेय।
अजीव के होते पाँच प्रभेद, जीव के संसारी मुक्त प्रभेद।।

ध्येय होता है मोक्ष स्वरूप, जीव द्रव्य का शुद्ध स्वभाव
हेय से युक्त होता अशुद्ध, हेय रहित होता है शुद्ध।। (3)

राग-द्वेष मोह होते हैं ज्ञेय, पाँच पाप सप्त व्यसन हेय।
भाव-द्रव्यकर्म होते हैं हेय हेय त्याग से मिलता ध्येय।।

हेय त्याग हेतु उपाय करो, रत्नत्रय रूपी मार्ग स्वीकारो।
ध्यान अध्ययन समता धरो, ''कनक'' आत्मा में रमण करो।। (4)

''नय के भेद-प्रभेद''

(वैश्विक कथन पद्धति)

(आगम द्रव्य आध्यात्मिक एवं व्यवहार दृष्टि से)

(जैन सिद्धांत की वर्णमाला)

(रागः चौपाई)

निश्चय व्यवहार रूप को जानो... अनेकान्त स्याद्वाद रूप पहचानो।
प्रमाण नयमय सत्य पहचानों... सत्यार्थ ज्ञान हेतु उपाय मानों।। (1)

सत्य है अनन्त द्रव्य गुणमय... केवलज्ञान का ज्ञेय विषय।
असर्वज्ञ का ज्ञान सीमित होता... नयज्ञान से वह सत्य को जानता।। (2)

अनन्त होते हैं नय प्रभेद... हर द्रव्य-गुण-पर्याय भेद।
ज्ञात अभिप्राय होते हैं नय... अतएव नय के तद्रूप भेद।। (3)

वर्णन हेतु नय संक्षेप कथन... निश्चय-व्यवहार आत्म कथन।
द्रव्य-पर्यायार्थिक विभिन्न नय... शुद्ध-अशुद्धमय अनेक भेद।। (4)

निश्चय नय अभेद कथन को करता... भेद कथन को व्यवहार करता।
आत्मा का कथन आध्यात्म करता.. द्रव्यार्थिक नय द्रव्यों का करता।। (5)

पर्यायार्थिक नय पर्यायों को कहता... शुद्धनय शुद्ध भावों को कहता।
अशुद्ध भावों को अशुद्ध कहता... दृष्टि सापेक्ष कथन ही होता।। (6)

भेद-अभेद नैगम कहता... अभेद रूप को संग्रह करता।
व्यवहारनय भेद को बोलता... संग्रह ग्राह्य को भेद में कहता।। (7)

ऋजुसूत्रनय सरल को कहता... एक समयवर्ती पर्याय को मानता।
शब्दनय शुद्ध शब्द को कहता... समभिरूढ़ अभिरूढ़ को मानता।। (8)

वर्तमान क्रिया (को) एवंभूत मानता... उत्तरोत्तर सूक्ष्म ग्राहित होता।
सापेक्ष दृष्टि से सत्य भी होता... निरपेक्ष से मिथ्या भी होता।। (9)

यथा निश्चय से जीव है चेतन... व्यवहार से शुद्ध-अशुद्ध चेतन।
शुद्ध चेतन है मुक्त जीव... अशुद्ध चेतन संसारी जीव।। (10)

द्रव्यनय से जीव एक द्रव्य... पर्याय से संसारी मुक्त जीव।
उत्तरोत्तर भेद-प्रभेद होते... संख्यात असंख्य अनन्त होते।। (11)

नयों से सत्य का ज्ञान होता... आत्म-परमात्मा का भान होता।
नयज्ञान अतः करणीय होता... 'कनकनन्दी' सत् प्रयास करता।। (12)

सच्चिदानन्द का रहस्य

(रागः चौपाई..., 2. आत्मशक्ति से ओत-प्रोत..., 3. केशवा-माधवा (मराठी), 4. दुनियाँ में रहना है..., 5. नन्हा-मुन्ना राही हूँ..., 6. छोटी-छोटी गैया..., 7. आओ झूले मेरे चेतन...)

सच्चिदानन्द के रहस्य जानों...आत्म-परमात्मा/(आध्यात्मिकता) का रूप पहचानो
आत्म विकास के गुर को को जानो... भौतिकता परे चैतन्य मानो।

सत् स्वरूप है आत्म-स्वरूप/(निज-स्वरूप)... चिदानन्दमय शुद्ध स्वरूप
शरीर-मन से परे स्वरूप... अमूर्तिकमय ज्ञान स्वरूप।।

सत् रूप है स्व-स्व-आत्मा... सत् होने से अनादि अनन्ता।
स्वयंभू सनातन अजन्मा अविनाशी... उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्व-निवासी।।

ज्ञान दर्शनमय चैतन्य स्वरूपी... स्पर्श गन्ध वर्ण रसहीन अरूपी।
तन-मन इन्द्रिय रहित ज्ञान स्वरूपी/(ज्ञान-शरीरा) शुद्ध-बुद्ध (मय) अनन्त गुणरूपी।।

अनन्त आत्मानन्द (मय) शुद्ध स्वरूप... आत्मोत्थ अतीन्द्रिय-सुख स्वरूप।
भोगोपयोग रहित निराकुल रूपा... आत्मनुभूतमय ज्ञान स्वरूपा।।

सत् स्वरूप है अनादि अनन्त... चैतन्य का नहीं विकास अनन्त।
आनन्द भी नहीं अक्षय अनन्त... विभाग भावजन्य/(हेतु) अनादि अनन्त।।

काम क्रोध मोह मद मत्सर... ईर्ष्या घृणा भय मायाचार।
हिंसा झूठ कुशील चौर्याचार... विभाव भाव है (जो) मिथ्याचार।।

इससे चिदानन्द/(भाव) विकृत हुआ... अविकसित चेतन दुःखमय हुआ।
काम क्रोधादि विनाश द्वारा... चिदानन्द प्रगट/(प्राप्त) होता आत्मा द्वारा।

विभाव भाव के विनाश हेतु... ध्यान अध्ययन मनन चिंतन।
क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच... दान दया तप समता उच्च।।

अहंकार-ममकार रहित भाव... दीन-हीन से परे भी भाव।
उदार व्यापक सहिष्णु भाव... आचरण युक्त हो ये सब भाव।।

यह सब हो दोष शोधन हेतु... ढोंग-प्रपंच रहित आत्मिक हेतु।
अन्धानुकरण रहित साधना हेतु... ख्याति पूजा लाभ रहित हेतु।।

यह है सच्चिदानन्द रहस्य... भौतिकवाद से परे रहस्य।
अनन्तज्ञानी द्वारा ज्ञात रहस्य... 'कनक' इस हेतु सदा प्रयास।

''जैन धर्म की अति विशेषताएँ''

(रागः सुनों-सुनों हे दुनियाँ वालों!....)

सुनों-सुनों हे दुनियाँ वालों!... जैन धर्म की विशिष्ट गाथा।
जिसे सुनकर तुम जानोगे... जैन धर्म की महान् शिक्षा।। ध्र.।।

जैन धर्म है प्राकृतिक धर्म... वस्तु स्वभाव धर्म कहता है।
प्रत्येक द्रव्य का जो-जो स्वभाव... उसका धर्म वह कहता है।। (1)

जीव का धर्म है चेतन रूप... सच्चिदानन्द स्वरूप है।
ज्ञान दर्श सुख वीर्यमय... अहिसा क्षमादि स्वरूप है।। (2)

द्रव्य-व्यवस्था में अति विशेषता... धर्म-अधर्म द्रव्य द्वय है।
गति-स्थिति में सहायक होते... जीव पुद्गल जब प्रमुख होते।। (3)

अनेकान्त है सत्य निर्णायक... स्याद्वाद है सत्य कथक।
हर द्रव्य है अनन्त गुणमय... हर द्रव्य है अनेकान्तमय।। (4)

विश्व है अनादि अनन्तमान... अकृत्रिम षड् द्रव्य प्रमाण।
कोई न कर्त्ता-हर्त्ता नियन्ता... उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्ता।।(5)

जीव-पुद्गल धर्म-अधर्म काल...अनन्त आकाश द्रव्य संकुल।
छहों द्रव्यों भी अनादि-अनन्त... अकृत्रिम शाश्वत् परिणमनशील।।(6)

द्रव्य क्षेत्र काल भाव व कर्म... जिसमें जीवों का निहित मर्म।
संसारी जीवों के जन्म-मरण... सुख-दुःखादि में है यह मर्म।। (7)

द्रव्य-भाव-नोकर्म त्रिविध... अष्ट अष्टोत्तर शत विविध।
संख्य-असंख्य भेद-प्रभेद... कर्म परमाणु से अनन्त भेद।। (8)

भाव से कर्माणु बन्धन होते... कर्म/(बन्ध) से विविध रूप धरते।
भाव से कर्मों से मोक्ष भी होते... भाव अशुद्ध-शुद्ध से होते।। (9)

अशुभ-शुभ-शुद्ध भावों से... निर्माण अध्यात्म सोपान होते।
चोदह गुणस्थान इसे कहते... आत्मविकास से मोक्ष/(निर्वाण) पाते।। (10)

जीव ही है जिनवर बनता... बीज व ही जैसे वृक्ष बनता।
आत्मा ही परमात्मा बनता... बन्ध से जब मुक्त हो जाता।। (11)

धारण करे धर्म उसका होता... नर-नारकी या पशु-देवता।
सत्य-विश्वास व पवित्र भाव... जैनी बनने का सर्वोच्च भाव।। (12)

अलौकिक गणित अति विशेष... अणु से लेकर विश्व अशेष।
संख्यात-असंख्यात अनन्त तक... प्रतिच्छेद से ब्रह्माण्ड तक।। (13)

सप्त तत्त्व तथा नव पदार्थ... षट् लेश्या तथा जीवसमास।
जन्मान्तर व मोक्ष की गति... मार्गणास्थान क्रम उन्नति।। (14)

अगुरुलघु है अति विचित्र... जिससे द्रव्य में बने स्थायित्व।
षड्गुण हानि अनन्त बने... शुद्ध द्रव्य में सतत बनें।। (15)

इत्यादि अनेक विशेष सत्य... जैनागम से करो प्रत्यक्ष।
संक्षिप्त से यहाँ वर्णन किया... 'कनकनन्दी' ने जो कुछ पाया।। (16)

चेतन वे युक्त जीव इन्द्रिय मन के द्वारा प्रकाश, चश्मा, यंत्र आदि से जानता है परन्तु चेतना रहित मृत जीव चर्म, आँख, कान, शरीर मन (द्रव्यमन) के द्वारा प्रकाश, चश्मा, यन्त्रादि से भी नहीं जान पाता है इससे सिद्ध होता है कि चेतना (आत्मा) ही यथार्थ से जीव है जो कि जानता है। इसलिए प्रत्येक जीव के स्व-स्व आत्मा की प्रत्यक्ष/साक्षी/निकटतम/आत्मीय/अनुभव करने वाला है। तथापि आध्यात्मिक चेतना की जागृति बिना (मोह सहित) जीव स्वयं को भी नहीं जान पाता है जैसा कि आँख स्व को देख नहीं पाती है। ऐसा जीव स्वयं से अनजान होकर स्व-उपकार के परिवर्तन से स्व-पर अपकार करते हुए स्वयं को महान् मानकर घमण्ड करता है।

-आचार्य कनकनन्दी

द्वितीय महाधिकार

विश्व के सप्ततत्व एवं नव पदार्थ

आसव बंधण संवर णिज्जर मोक्खो सपुण्णपावा जे।
जीवाजीव विसेसा ते वि समासेण पभणामो।। (28)
आस्त्रवबन्धनसंवरनिर्जरमोक्षाः सपुण्यपापाः ये।
जीवाजीवविशेषाः तान् अपि समासेन प्रभणामः।।

We shall describe briefly those varieties of Jiva and Ajiva also which are (known as) Asrava, Bandha, Samvra, Nirjara and Moksha with Punya and Papa.

अब जो आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप ऐसे सात जीव, अजीव के भेदरूप पदार्थ हैं, इनको भी संक्षेप में कहते हैं।

प्रथम अध्याय में आचार्य श्री ने विश्व के मूलभूत मौलिक छह द्रव्यों का सांगोपांग वर्णन किया है। इस अध्याय में जीव द्रव्य तथा पुद्गल द्रव्य (कार्माण वर्गणा) के मिश्रण से (संश्लेष बंध से) तथा उसके वियोग से जो विभिन्न अवस्थायें होती हैं उसका वर्णन इस द्वितीय महा अधिकार में किया गया है। इनके मुख्यतः सात अवस्थायें होती हैं जिसे सप्त तत्व कहते हैं। वे हैंः-

1. जीव, 2. अजीव (कर्म वर्गणाएँ), 3. आस्रव, 4. बंध, 5. संवर, 6. निर्जरा, 7. मोक्ष। आस्रव के दो भेद हो जाते हैं। यथा (1) पुण्यास्रव, (2) पापास्रव। उपर्युक्त सप्त तत्व में पुण्य और पाप मिलाने पर 9 पदार्थ हो जाते हैं। ये आस्रवादि जीव एवं अजीव की पर्यायें हैं, अवस्थायें हैं। ये मौलिक द्रव्य नहीं हैं। आस्रवादि जीव रूप भी है और अजीव रूप भी है। इसका वर्णन स्वयं ग्रंथकर्त्ता आगे करेंगे। तथापि एकाध उदाहरण देकर समझाता हूँ। जैसे- आस्रव तत्व लीजिये। जीव के दो वैभाविक परिणाम एवं आत्म प्रदेशों का परिस्पंदन है वह भाव आस्रव (जीवास्रव) है और इस जीवास्रव को निमित्त पाकर जो कर्म पुद्गलों का उन जीवों में आगमन

रूप पर्याय–अवस्था है वह (द्रव्य आस्रव/अजीवास्रव) है।

इसी प्रकार बंधादि में जान लेना चाहिए। ग्रंथकर्त्ता स्वयं आगे आस्रवादि की परिभाषा देने वाले हैं तथापि यहां संक्षिप्त रूप से परिभाषा दे रहा हूँ–

1. आस्रव– जीव के वैभाविक योग एवं उपयोग से कर्मों का जो आगमन होता है उसे आस्रव कहते हैं।

2. बंध– कर्मास्रव के बाद जीव के वैभाविक कारणों के कारण जीव और कर्म का जो संश्लेष संबंध होता है उसे बंध कहते हैं।

3. संवर– आस्रव के विपरीत परिणाम को संवर कहते हैं अर्थात् कर्मों का आना रूक जाना संवर है।

4. निर्जरा–जीव के शुभ एवं शुद्धभाव से कर्म का एकदेश जीव से पृथक् हो जाना निर्जरा है।

5. मोक्ष– शुद्ध परिणति के कारण संपूर्ण कर्मों का जीव से संपूर्ण रूप से पृथक्करण हो जाना मोक्ष है।

6. पुण्य– जीव के शुभ परिणाम से कर्मों का प्रशस्त रूप परिणमन करना पुण्य है।

7. पाप– जीव के अशुभ परिणाम से कर्म का अप्रशस्त परिणमन करना पाप है।

8. जीव– चैतन्य गुण युक्त द्रव्य को जीव कहते हैं।

9. अजीव– चैतन्य रहित अवशेष पाँचों द्रव्य अजीव होते हुए भी इस प्रकरण में कर्म वर्गणा को अजीव रूप से स्वीकार किया गया है।

भावास्रव एवं द्रव्यास्रव

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि। (29)
आस्रवति येन कर्म्म परिणामेन आत्मनः स विज्ञेयः।
भावास्रवः जिनोक्तः कर्म्मास्रवणं परः भवति।।

That modification of th soul by which karma gets into

(it) is to be known as Bhavasrava, as told by the Jina, and the other (kind of Asrava) is the influx of Karma.

जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आस्रव होता है उसको श्री जिनेंद्र द्वारा कहा हुआ भावास्रव जानना चाहिये और भावास्रव से भिन्न ज्ञानावरण आदिरूप कर्मों का जो आस्रव है सो द्रव्यास्रव है।

पूर्वोक्त (28) नंबर गाथा में जो सप्त तत्व का दिग्दर्शन किया गया था, उनमें से प्रथम आस्रव तत्व का वर्णन 29, 30, 31, गाथा में किया गया है। 29 नंबर गाथा से भावास्रव एवं द्रव्यास्रव की परिभाषा दी गयी है। आस्रव तत्त्व का वर्णन करते हुए उमास्वामी ने कहा है-

कायवाङ्मनः कर्मयोगः (1) अ.6 पृ. 353

Yoga is the name of vibrations set in the soul by the activity of body, speech or mind.

काय, वचन और मन की क्रिया योग है।

इस विश्व में कार्माण वर्गणा ठसाठस भरी हुई है। उसमें कर्मरूप परिणमन करने की योग्यता भी है। परंतु जब तक जीव के योग एवं उपयोग का निमित्त नहीं मिलता है तब तक कर्म वर्गणा आकर्षित होकर जीव में आकर नहीं मिलती है, इसलिए आस्रव तत्त्व का वर्णन करने के पहले ही योग का वर्णन किया गया है क्योंकि योग से आस्रव होता है।

काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। इस क्रिया से आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदन हलन-चलन ही योग है। वह निमित्तों के भेद से तीन प्रकार का है- काययोग, वचन योग और मनोयोग।

गोम्मट्टसार में कहा भी है-

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती, कम्मागमकारणं जोगो।।

(216) गो. जी.

पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं।

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंग तत्तायसपिंडओव जलं।। (3)

(गो.क.पृ.2)

यह जीव औदारिक आदि शरीर नाम कर्म के उदय से योग सहित होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप होने वाली वर्गणाओं को तथा औदारिक आदि चार शरीर (1) औदारिक (2) वैक्रियक (3) आहारक (4) तैजस रूप होने वाली जो कर्मवर्गणाओं को हर समय चारों तरफ से ग्रहण (अपने साथ संबद्ध) करता है। जैसे कि आग से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब ओर से अपनी तरफ खींचता है।

सः आस्रवः।

This Yoga is the channel of Asrava of inflow of Karmic matter into the soul.

वही आस्रव है।

काययोग, वचनयोग एवं मनोयोग से आस्रव होने के कारण इन योगों को ही आस्रव कहा है। कर्म परमाणु का, योग के द्वारा आकर्षित होकर आने को आस्रव कहते हैं। योग, आस्रव होने में कारण है तथापि सूत्र में कारण में कार्य का उपचार कर योग को ही आस्रव कहा है। जैसे- अन्न प्राण नहीं हैं तो भी प्राण की स्थिति में अन्न कारण होने से अन्न को ही प्राण कह देते हैं।

जैसे- नौका में छिद्र होने पर छिद्र से पानी नौका में प्रवेश कर लेता है उसी प्रकार मन, वचन, काय से परिस्पंदन रूपी छिद्र से कर्म का आगमन होता है उसे आस्रव कहते हैं। आस्रव के दो भेद हैं (1) द्रव्य आस्रव (2) भाव आस्रव।

उपर्युक्त वर्णन से द्रव्य संग्रह की प्रतिपत्ति एवं तत्वार्थ सूत्र की प्रतिपत्ति में कुछ विरोधभास प्रतीत होता है। क्योंकि द्रव्य संग्रह के अनुसार आस्रव का कारण जीव का परिणाम कहा गया है। तो तत्वार्थ सूत्र के अनुसार इसका कारण मन, वचन, काय का परिस्पंदन कहा है परंतु दोनों का हार्द एवं रहस्य एक ही है। उसका कारण यह है कि जब जीव में

वैभाविक परिणाम होता है तब उस वैभाविक कारणों के कारण जीव के आत्म प्रदेश में क्षोभ/कंपन/स्पंदन/योग उत्पन्न होता है और इसके कारण ही आस्रव होता है। परिणाम एवं योग में कार्य-कारण संबंध है। परिणाम कारण है तो योग कार्य है। द्रव्य संग्रह ग्रंथ कर्त्ता ने कारण को मुख्यता देकर वर्णन किया है तो तत्त्वार्थ सूत्र के ग्रंथ कर्त्ता ने कार्य को मुख्यता देकर वर्णन किया है। विवक्षा वशतः वर्णन अलग होते हुए भी दोनों के उद्देश्य एवं कार्यादि में किसी प्रकार का अंतर एवं विरोध नहीं है। परिणाम के बिना केवल शरीर में परिस्पंदन होने से आस्रव नहीं होता है। जैसे- मृत शरीर में किसी कारणवशतः हलन-चलन होने पर भी कर्मास्रव नहीं होता है। जैस ध्यानस्थ मुनिराज का शरीर कोई दृष्ट जीव हिलाता है, डुलाता है या फेंकता है तब उस संबंधी शरीर में कंपन भी होता है तो भी उस कंपन संबंधी कर्मास्रव नहीं होता है इससे सिद्ध होता है कि वैभाविक उपयोग से जो योग होता है उससे आस्रव होता है।

भावास्रव की परिभाषा

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादओऽथ विण्णेया।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स।। (30)
मिथ्यात्वाविरति प्रमादयोगक्रोधादयः अथ विज्ञेयाः।
पञ्च पञ्च पञ्चदश त्रयः चत्वारः क्रमशः भेदाः तु पूर्वस्य।।

Then, it should be known that of the former (i. e. Bhavasrava) (the subdivisions are) Mithyatva, Avirati, Pramada, Yoga, Anger, etc; (which are again of) five, five, fifteen, three and four classes, respcetively.

अब प्रथम जो भावास्रव है उसके मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, योग और क्रोध आदि कषाय ऐसे पाँच भेद जानने चाहिये और मिथ्यात्व आदि के क्रम में पाँच, पाँच, पंद्रह तीन और चार भेद समझने चाहिये अर्थात् मिथ्यात्व के पाँच भेद, अवरिति के पाँच भेद, प्रमाद के पँद्रह भेद, योग के तीन भेद और क्रोध आदि कषायों के चार भेद जानने चाहिए।

29 नंबर गाथा में सामान्यतः भावास्रव एवं द्रव्यास्रव की परिभाषा देने के बाद 30 नंबर गाथा में आचार्य श्री ने क्रम प्राप्त भावास्रव की सूत्रबद्ध व्यापक परिभाषा दी है। पूर्व में बताया गया था कि आस्रव के मूल कारण वैभाविक उपयोग एवं योग हैं। वैभाविक भाव की दृष्टि से उपयोग 1 प्रकार होते हुए भी उसके उत्कृष्ट प्रतिपत्ति से असंख्यात् लोक प्रमाण भाव होते हैं जिसे अध्यवसाय स्थान, कषाय स्थान, बंध स्थान आदि नाम से अधिक-अधिक कर सकते हैं। इस गाथा में आचार्य श्री ने प्रतिपादन करने की उत्कृष्ट प्रणाली एवं बहुप्रचलित प्रणाली मध्यम प्रतिपत्ति का सहारा लिया है।

1. मिथ्यात्व- सर्वज्ञ हितोपदेशी द्वारा प्रतिपादित सत्य-तथ्य से विपरीतरूप अंध श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते हैं। 363 से लेकर संख्यात, असंख्यात एवं अनंत प्रकार के भी मिथ्यात्व होते हैं। तथापि यहां पर (1) एकांत मिथ्यात्व (2) विपरीत मिथ्यात्व (3) विनय मिथ्यात्व (4) संशय मिथ्यात्व (5) अज्ञान मिथ्यात्व को ग्रहण किया गया है।

1. एकांत मिथ्यात्व- वस्तु में अनेक गुण धर्म होने के कारण वस्तु का स्वरूप अर्थात् धर्म अनेकांतात्मक है। परंतु कदाग्रह से, हठाग्रह से उनमें से कोई एक ही धर्म को अथवा गुणों को स्वीकार करके अवशेष गुण एवं धर्म को स्वीकार न करना एकांत मिथ्यात्व है। जैसे- ब्रह्म को ही सत्य मानना, जगत् को मिथ्या मानना। संसारी जीव को भी एकांततः मुक्त मानना आदि।

2. विपरीत मिथ्यात्व- सत्य से विपरीत मान्यता विपरीत मिथ्यात्व है। जैसे- विश्व को शून्य मानना, चैतन्य मुक्त जीव का अभाव मानना आदि-आदि।

3. विनय मिथ्यात्व- ''गंगा गये गंगादास जमुना गये जमुनादास'' इस कथन के अनुसार सत्य की परीक्षा किए बिना सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु को सच्चे धर्म एवं मिथ्याधर्म को समान भाव से मानना विनय मिथ्यात्व है।

4. संशय मिथ्यात्व- सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रतिपादित एवं उनके कथानानुसार लिखा हुआ ग्रंथ के विषयों को सत्य है या नहीं? पुण्य या

पाप का फल मिलता है या नहीं? इस प्रकार की भ्रम बुद्धि को भी संशय मिथ्यात्व कहते हैं।

5. अज्ञान मिथ्यात्व – जिसमें हित–अहित विवेक का अत्यंत अभाव है तथा कपोल–कल्पित, रूढ़ी एवं मिथ्या–परंपराओं को धर्म मानना अज्ञान मिथ्यात्व है।

2. अविरति – हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और अपरिग्रहरूप पाँचों पापों का त्याग नहीं करना पंच अविरति है। प्रकारांतर से पाँच इन्द्रिय एवं मन की प्रवृत्ति को नहीं रोकना और षट्काय जीव की विराधना ऐसी बारह प्रकार की अविरति भी है।

3. प्रमाद– आत्मोन्नति के कारणभूत अपने कर्तव्यों में, अपने धर्म में क्रोधादि कषायों से प्रेरित होकर, अनुत्साहित होना, सतर्कता नहीं रखना, आलसी बनना प्रमाद है। 4 कषाय (क्रोध, मान, माय, लोभ) 4 विकथा (राजकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा, चोर कथा) 5 इंद्रिय (स्पर्शन रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण) निद्रा और राग इस तरह 15 प्रमाद के भेद हैं।

4. योग– मन, वचन, काय के परिस्पंदन को योग कहते हैं। मन योग, वचन योग और काय योग से योग के तीन भेद हैं। अथवा 4 मनोयोग, 4 वचन योग एवं 7 काय योग मिलाकर 15 योग के भेद भी हैं।

द्रव्यास्रव की परिभाषा एवं भेद

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो।। (31)
ज्ञानावरणादीनां योग्यं यत् पुद्गलं समास्रवति।
द्रव्यास्रवः सः ज्ञेयः अनेक भेदः जिनाख्यातः।।

That influx of matter which causes Jnanavaraniya etc. is to be known as Dravyasrava as called by the jina and possessing many varieties.

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिये। वह अनेक भेदों सहित हैं, ऐसा श्री जिनेंद्र ने

कहा है।

योग एवं उपयोग रूपी भावास्रव के कारण कर्म योग्य पुद्गलों का आगमन होना द्रव्यास्रव है। जिस प्रकार वायु से चालित धूलि द्वार एवं गवाक्ष (खिड़की) के माध्यम से घर में प्रवेश करती है उसी प्रकार कर्म वर्गणा रूप पुद्गल द्रव्य योग एवं उपयोग के द्वार से आत्मा में जो प्रवेश करता है उसे द्रव्यास्रव कहते हैं। यह द्रव्यास्रव सामान्यतः एक होते हुए भी पुण्य-पाप एवं घाति-अघाति रूप से दो प्रकार के हैं। (1) ज्ञानावरणीय (2) दर्शनावरणीय (3) वेदनीय (4) मोहनीय (5) आयु (6) नाम (7) गोत्र (8) अन्तराय के भेद से 8 प्रकार के भी हैं। ज्ञानावरणीय के 5, दर्शनावरणीय के 9, वेदनीय के 2, मोहनीय के 28, आयु के 4, नाम के 93, गोत्र के 2 और अन्तराय के 5 इस प्रकार 148 प्रकार के भी हैं। इतना ही नहीं, इसके संख्यात-असंख्यात भेद भी हो जाते हैं।

भाव-बंध एवं द्रव्य-बंध

बज्झदिकम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो (32)।।
बध्यते कर्म्म येन तु चेतनभावेन भावबंधः सः।
कर्म्मात्मप्रदेशानां अन्योन्यप्रवेशनं इतरः।।

That conscious state by which Karma is bound (with the soul) is called Bhava-bandha, while the interpenetration of the Karma and Pradeshas of the soul of the other (i.e. Dravyabandha)

जिस चेतन भाव से कर्म बंधता है वह तो भाव बंध है और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेशन रूप अर्थात् कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एकाकार होने रूप दूसरा द्रव्य बंध है।

आस्रव के बाद जीव एवं पुद्गल की जो अवस्था विशेष होती है उसे बंध कहते हैं। गाय को जैसे रस्सी से बांधते हैं या कागज को गोंद से चिपकाते हैं उसी प्रकार बंध यहाँ नहीं होता है परंतु यह बंध लोहे को अग्नि

से गर्म करने पर जिस प्रकार अग्नि और लोहे का संश्लेष बंध (अन्योन्य प्रदेश) होता है उसी प्रकार होता है। यह बंध भी दो प्रकार के हैं। 1. द्रव्य बंध, 2. भाव बंध। मिथ्यात्व आदि वैभाविक भाव, भाव बंध है। तो कर्म परमाणु का जीव प्रदेशों में संश्लेषित बंध हो जाना द्रव्य बंध है। वृहद द्रव्य संग्रह में संस्कृत टीका में कहा गया है मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपेण वाऽशुद्धचेतनभावेन परिणामेन बध्यते ज्ञानावरणादि कर्म येन भावेन स भावबंधो भण्यते। ''कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो'' कर्मात्मप्रदेशानामन्योन्य प्रवेशमितरः। तेनैव भावबंध निमित्तेन कर्मप्रदेशानामात्मप्रदेशानां च क्षीरनीरवदन्योन्य प्रवेशनं संश्लेषो द्रव्यबंध इति।

मिथ्यात्व राग आदि में परिणति रूप अशुद्ध चेतन भाव स्वरूप जो परिणाम है उससे जो कर्म बंधता है वह भावबंध कहलाता है। कर्म और आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेशन रूप द्रव्य बंध (दूसरा) है। अर्थात् उसी पूर्वोक्त भावबंध के निमित्त से कर्म के प्रदेशों का और आत्मा के प्रदेशों का जो दूध तथा जल की भांति एक दूसरे में प्रवेश होना अर्थात् मिल जाना है सो द्रव्य बंध है।

बंध के भेद व कारण

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेस भेदादु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।। (33)
प्रकृतिस्थित्यनुभागपदेशभेदात्, तु चतुर्विधो बंधः।
योगात् प्रकृति प्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतः भवतः।।

Bandha is of four kinds, according at the (subdivisions, viz,) Prakriti, Sthiti, Anubhaga and Pradesha, Prakriti and Pradesha are (produced) from Yoga, but Sthiti and Anubhaga and from Kashaya.

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से बंध चार प्रकार का है। इनमें योगों से प्रकृति तथा प्रदेशबंध होते हैं और कषायों से स्थिति तथा अनुभाग बंध होते हैं।

वर्तमान गाथा के पूर्वार्ध में बंध के भेद एवं उत्तरार्ध में उस बंध के कारण को बताया है।

सामान्य दृष्टि से यह बंध एक होते हुए भी विशेष दृष्टि से इसके अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं। द्रव्यबंध, भावबंध के भेद से दो भेद, कर्म बंध, नोकर्मबंध भावबंध के भेद से तीन प्रकार के हैं (1) प्रकृति बंध (2) स्थिति बंध (3) अनुभव (अनुभाग) (4) प्रदेशबंध के भेद से बंध चार प्रकार के हैं। ज्ञानावरणादि आठ कर्म के भेद से बंध आठ प्रकार के भी है। 148 (एक सौ अड़तालीस) भेद रूप कर्म की अपेक्षा बंध 148 प्रकार के भी हैं। परंतु मुख्यतः प्रकृति आदि के प्रकार के बंध के भेदों का वर्णन यहाँ पर कर रहे हैं।

महान् तत्वज्ञ दार्शनिक महर्षि उमास्वामी ने ज्ञान-विज्ञान-धर्म एवं दर्शन की अनुपम कृति तत्वार्थ सूत्र में चार प्रकार के बंधों का वर्णन करते हुए कहा भी है-

प्रकृतिस्थित्यनुभव प्रदेशास्तद्विधयः।। (3) (रा0वा0अ08)

प्रकृति स्थिति अनुभव (अनुभाग) और प्रदेश के भेद से बंध चार प्रकार का है।

प्रकृति बंध

प्रकृतिः स्वभाव इत्यनर्थान्तरम्।। (4)

(रा0वा0अ0पृ.0 452)

प्रकृति और स्वभाव ये एकार्थवादी शब्द हैं। जैसे- नीम की प्रकृति क्या है? नीम का स्वभाव तिक्तता है गुड़ का स्वभाव या प्रकृति मधुर है अर्थात् नीम की प्रकृति कड़वापन है और गुड़ की प्रकृति मधुरता है उसी प्रकार ज्ञानावरणीय की प्रकृति अथवा स्वभाव अर्थज्ञान नहीं होने देना अतः प्रकृति और स्वभाव एकार्थवाची हैं। इसी प्रकार दर्शनावरण की प्रकृति (स्वभाव) है अर्थ का दर्शन नही करने देना, वेदनीय का स्वभाव है सुख-दुःख का संवेदन कराना, दर्शन मोहनीय की प्रकृति है नारक तिर्यञ्च आदि व्यवहार कराना, गोत्र का स्वभाव है ऊँच नीच का व्यवहार कराना तथा अंतराय कर्म का स्वभाव है दानादि में विघ्न कराना। इस

प्रकार के कार्य जिससे उत्पन्न होते हैं, वह प्रकृति बंध है। अपादान साधन से निष्पन्न यह प्रकृति शब्द है।

स्थिति बंध

तत्स्वभावप्रच्युतिः स्थितिः।। (15)

उस स्वभाव से च्युत ना होना स्थिति है अर्थात् उस स्वभाव की अप्रच्युति स्थिति कहलाती है। जैसे- बकरी, गाय,भैंस आदि के दूध का अपने माधुर्य स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय आदि कर्म-प्रकृति का अपने अर्थानगमन आदि (अर्थों का ज्ञान नहीं हो, वेदना आदि) स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है।

अनुभाग बंध

तद्रसविशेषोऽनुभवः ।। (6)

कर्मों के इस विशेष (फलदान शक्ति विशेष) को अनुभाग बंध कहते हैं। जैसे- बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में तीव्र मंद आदि भाव से रस विशेष होता है अर्थात् दूध सामान्य होते हुए भी उसमें स्निग्धता, मधुरता आदि में विशेषता होती है उसी प्रकार कर्म पुद्गलों की स्वकीय फलदान शक्ति के सामर्थ्य विशेष को अनुभव/अनुभाग बंध कहते हैं।

प्रदेश बंध

इयत्ताऽवधारणं प्रदेशः ।। (7)

इयत्ता के अवधारण को प्रदेश बंध कहते हैं अर्थात् कर्म रूप के परिणत पुद्गल स्कंधों के परमाणुओं की गणना को प्रदेश बंध कहते हैं।

तत्र योग निमित्तौ प्रकृति प्रदेशौ ।। (9)

इस बन्ध के विकल्पों में प्रकृति बंध और प्रदेश बंध योग के निमित्त से होते हैं ऐसा जानना चाहिए।

स्थिति बंध और अनुभाग बंध कषाय के कारण होता है अर्थात् स्थिति बंध और अनुभाग बंध कषाय हेतुक है ऐसा जानना चाहिए। इन कषायों के तारतम्य से स्थिति अनुभाग में विचित्रता आती है क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है।

जीव को परतंत्र करने रूप स्वभाव के कारण कर्म प्रकृति एक होते हुए

भी विभिन्न कार्य भेद में इन प्रकृतियों में भी आठ भेद हो जाते हैं। यथा- (1) ज्ञानावरणीय (2) दर्शनावरणीय (3) वेदनीय (4) मोहनीय (5) आयु (6) नाम (7) गोत्र (8) अन्तराय। इन प्रकृतियों के स्वभाव अर्थात् कार्य निम्न प्रकार के होते हैं।

पडपडिहाररसिमज्जाहलिचित्तकुलालभंडयारीणं।
जह एदेसी भावा तहवि य कम्मा गुणेयव्वा।। (21)

(गो0 सा0 कर्मकांड)

पट अर्थात् देवता के मुख से उपर का वस्त्र। (1) प्रतिहार अर्थात् राजद्वार पर बैठा हुआ द्वारपाल (ड्योडीवान) (2) असि (शहद लपेटी तलवार की धार) (3) शराब (4) काठ का यंत्र- खोड़ा (5) चित्राकार/ चितेरा (6) कुंभार (7) भंडारी (खजांची) (8) इन आठों के जैसे-जैसे अपने-अपने कार्य करने के भाव होते हैं उसी तरह क्रम से कर्मों के भी स्वभाव समझना चाहिए।

उपरोक्त उदाहरण आठों कर्म के लिए क्रम से है इसका विशेष व्याख्यान नीचे कर रहे हैं।

(1) ज्ञानावरणी

वत्थस्य सेदभावो जह णासेहि मल विमेलणाच्छण्णो।
अण्णाण मलोच्छण्णं तह णाणं होदिणादव्वं।। (165)

(समयसार)

मैल के विशेष संबंध से दबकर वस्त्र के श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही जीव का मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान गुण भी अज्ञान रूपी मल से (ज्ञानावरण कर्म से) दबकर नष्ट हो जाता है।

जैसे- दर्पणके उपर धूली लगने से दर्पण की स्वच्छता छिप जाती है या सूर्य के सन्मुख बादल आने पर सूर्य की रश्मि छिप जाती है व भगवान् के सामने वस्त्र रहने पर भगवान् का रूप ढक जाता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को ढक देता है।

2. दर्शनावरणीय

सामान्य सत्ता अवलोकन रूप अंतः चेतना रूपी प्रकाश को आवरण

करने वाला दर्शनावरणीय कर्म है। जैसे द्वारपार, राजा, मंत्री आदि मालिक को देखने नहीं देता है अर्थात् देखने के लिए रोक देता है। उसी प्रकार यह कर्म वस्तु का सामान्य अवलोकन रूप दर्शन नहीं होने देता है।

3. वेदनीय

अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहरूवयं सादं।
दुक्ख सरूवमसादं तं वेदयदीदि वेदणियं।। (14)

(गो. कर्मकांड)

इन्द्रियों का अपने अपने रूपादि विषय का साता रूप में अनुभव करना सातावेदनीय है। उसमें दुःख रूप अनुभव करना असाता वेदनीय हैं। उस सुख-दुःख का अनुभव जो करावे वह वेदनीय कर्म है।

जो कर्म वेदन किया जाता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इस अपेक्षा सभी कर्म वेदन किए जाते हैं इसलिए सभी कर्म वेदनीय होने पर भी विशेष रूप से संसारी जीव सुख-दुःख का अधिक रूप से वेदन करता है इसलिए सुख-दुख देने वाले कर्म को वेदनीय कर्म कहते हैं। दूसरी बात है कि वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म के भेद जो रागद्वेष हैं, उनके उदय के बल से घातिया कर्मों की तरह जीवों का घात करता है। अर्थात् इन्द्रियों के रूपादि विषयों में से किसी में से किसी में रति (प्रीति) और किसी में अरति (द्वेष) का निमित्त पाकर सुख तथा दुःख स्वरूप साता और असाता का अनुभव करके जीव को अपने ज्ञानादि गुणों में उपयोग नहीं करने देता, परस्वरूप में लीन करता है।

4. मोहनीय कर्म

जो जीव को मोहित करे वह मोहनीय कर्म है। इस दृष्टि से मोहनीय कर्म सामान्य से एक होते हुए भी विशेष अवस्था में दो भेद हैं। जो दर्शन गुण को मोहित करके विपरीत करे वह दर्शन मोहनीय है। जो चारित्र गुण को मोहित करके विपरीत करे वह चारित्र मोहनीय है।

(क) दर्शन मोहनीय -

सम्मत्त पडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्तिणादव्वो।। (168)

(समयसार)

आत्मा के सम्यकत्व गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है।

मिच्छतं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणओ होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो।। (17)

(गो.जीव)

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभवन करने वाला जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्त्व श्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्त्व की ही श्रद्धा करता हैं, अपितु अनेकान्तात्मक धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव को अथवा मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसंद नहीं करता। इसमें दृष्टांत देते हैं जैसे- पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे दूध आदि रस को पसंद नही करता। उसी तरह मिथ्यादृष्टि को धर्म नहीं रूचता।

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं सद्दहद्दि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं।। (18)

(गो. जीव)

मिथ्यादृष्टि जीव 'उपदिष्ट' अर्थात् अर्हन्त आदि के द्वारा कहे गए, प्रवचन अर्थात् आप्त, आगम और पदार्थ ये तीन, इनकी श्रद्धान नही करता है। प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप्त, प्रकृष्ट का वचन- प्रवचन अर्थात् परमागम,प्रकृष्ट रूप से जो कहा जाता है अर्थात् प्रमाण के द्वारा कहा जाता है। वह प्रवचन अर्थात् पदार्थ इन निरुक्तियों प्रवचन शब्द से आप्त, आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते हैं तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्यारूप प्रवचन यानि आप्त आगम पदार्थ का उपदिष्ट अर्थात् आप्ताभासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान करता है।

(ख) चारित्र मोहनीय

चारित्र पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहिदं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो। (170)

समयसार

चारित्र गुण को रोकने वाला कषाय भाव जिसके उदय से यह जीव चारित्र रहित अर्थात् अचारित्री हो रहा है ऐसा जिनेंद्र भागवान् ने बतलाया है।

5. आयुकर्म

एत्यनेन गच्छति नारकादि भवमित्यायुः। (रा.अ. 8 पृ456)

जिस कर्म के उदय से जीव नारकादि पर्यायों को प्राप्त होता है नारकादि भवों में वास करता है, उसे आयु कहते हैं। इसका स्वभाव लोहे की सांकल वा काठ के यंत्र के समान है। जैसे- सांकल अथवा काठ का यंत्र पुरुष को अपने स्थान में स्थित रखता है दूसरी जगह नहीं जाने देता, ठीक उसी प्रकार आयु कर्म जीव को मनुष्यादि पर्याय में स्थित (मौजूद) रखता है दूसरी जगह नहीं जाने देता।

6. नाम कर्मः-

गदिआदि जीव भेदं देहादी पोग्गलाणं भेदं च।
गदियंतरपरिणमनं करेदि णामं अणेयविहं।

(12) गो. कर्म

नाम कर्म गति आदि अनेक तरह का है। वह नारकी आदि जीव की पर्यायों के भेदों को और औदारिक शरीर आदि पुद्गल भेदों को तथा जीवों के एक गति से दूसरी गति रूप परिणमन को करता है। अर्थात् चित्रकार की तरह अनेक कार्य को किया जाता है। नाम कर्म के कारण ही विभिन्न प्रकार वैचित्र्य पूर्ण शरीर के अवयव, इन्द्रियों शरीर के आकार-प्रकार आदि का निर्माण होता है। शुभ नाम कर्म से सुंदर प्रशस्त शरीर आदि की उपलब्धि होती है तथा अशुभ नाम कर्म के उदय से असुंदर हीनांग अधिकांग या विकलांग सहित शरीर की प्राप्ति होती है।

7. गोत्र कर्मः-

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं। (13)

कुल की परिपाटी के क्रम से चला आया जो जीव का आचरण उसकी गोत्र संज्ञा है, अर्थात् उसे गोत्र कहते हैं। उस कुल परंपरा को ऊँचा (उत्तम) आचरण हो तो उसे उच्च गोत्र कहते हैं। यदि निंद्य आचरण हो तो वह नीच गोत्र कहा जाता है। जैसे, एक कहावत है कि सियार का एक बच्चे को बचपन से सिंहनी ने पाला। वह सिंह के बच्चों के साथ खेला करता था।

एक दिन खेलते हुए वे सब बच्चे किसी जगह में गये। वहाँ उन्होंने हाथियों का समूह देखा। देखकर जो सिंहनी के बच्चे थे वे तो हाथी से सामने हुए लेकिन वह सियार जिसमें कि कुल का डरपोकपने का संस्कार था हाथी को देखकर भागने लगा तब से सिंह के बच्चे भी अपना बड़ा भाई समझ कर उसके पीछे लौटकर माता के पास आये, और उस सियार की शिकायत की कि इसने हमें शिकार से रोका। तब सिंहनी ने उस सियार के बच्चे को एक श्लोक कहा जिसका मतलब यह है कि हे बेटा! तू यहाँ से भाग जा, नहीं तो तेरी जान नहीं बचेगी। ''शूरोऽसि कृतिविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रकः। यस्मिन कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते।''

अर्थात् हे पुत्र! तू शूर वीर है विद्यावान् है, देखने योग्य है (रूपवान्) है, परंतु जिस कुल में तू पैदा हुआ है उस कुल में हाथी नहीं मारे जाते।

8. अन्तराय कर्मः-

बहियोगो वा, यस्मिन् मध्येऽवास्थि
दात्रादीनां- दानादिक्रियाऽभावः
दानादीच्छाया बहिर्भावो वा सोऽन्तरायः।

दाता और पात्र आदि के बीच में विघ्न करावे या जिस कर्म के उदय से दाता और पात्र के मध्य में अंतर डाले उसे अन्तराय कहते हैं अथवा जिसके रहने पर दाता आदि-दानादि क्रियाएँ नहीं कर सके दानादि की इच्छा से पराङ्मुख हो जावे, वह अन्तराय कर्म है।

जीव के वैभाविक भाव एवं योग के कारण कर्म पुद्गलों का उपर्युक्त ज्ञानावरणीयादि शक्ति सहित हो जाना ही ''प्रकृति बंध'' है।

जीव के उपयोग एवं योग को निमित्त पाकर जो कर्म परमाणु आकर्षित होकर जीव के साथ बंधते हैं उसे प्रदेश बंध कहते हैं। ये प्रदेश संख्यात, असंख्यात या जघन्य अनंत भी नहीं होते हैं पर मध्यम अनंतानंत होते हैं क्योंकि जीव महान् अनंत शक्ति संपन्न द्रव्य है और उसमें असंख्यात प्रदेश भी होते हैं। जिस प्रकार एक मदोन्मत्त हाथी को एक तिनके से बांधकर परतंत्र नहीं कर सकते उसी प्रकार संख्यात, असंख्यात परमाणु जीव को बांधकर परतंत्र नहीं कर सकते हैं। जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं इसलिए

असंख्यात को बांधने के लिए कम से कम असंख्यात चाहिए ही। परंतु असंख्यात आत्म प्रदेश के ऊपर अनादिकालीन कर्म बंधे की संतति की अपेक्षा एक-एक आत्म प्रदेश में अनंतानंत कर्म परमाणु बंध हुये हैं। नवीन कर्म बंध प्राचीन कर्म बंध में होता है इसलिए भी संख्यात, असंख्यात एवं जघन्य अनंत कर्म परमाणु भी एक समय में नहीं बंधते हैं। तत्वार्थ सूत्र एवं तत्वार्थ वार्त्तिक आदि प्राचीन ग्रंथ में कहा भी है।

4. प्रदेश बंध

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनंतानंतप्रदेशाः।। (24)

(तत्वार्थवार्तिके, अ. 8 पृ. 510)

अपने नाम के अनुसार सभी भावों में योगविशेष से आने-वाले, आत्मा के संपूर्ण प्रदेशों में सूक्ष्म एकक्षेत्रावगाही अनन्तान्त कर्म पुद्गल प्रदेश बंध हैं।

सर्वेषु भवेषु सर्वतः ।। (2)

सभी भावों में होने वाला सर्वतः कहा जाता है। 'अन्यतः' भी देखा जाता है, इस प्रकार ''तस्' प्रत्यय करने पर सर्व भावों में होने वाला 'सर्वतः' ऐसा बनता है। इस 'सर्वतः' शब्द से काल का ग्रहण किया गया है। एक जीव के अतिक्रांत अनंत भव और आगामी-असंख्यात, संख्यात एवं अनंत भव होते हैं। उन सर्व भवों में कर्मों का आस्रव होता है।

योगविशेषादिति वचनं निमित्तनिर्देशार्थम्। (3)

'योगविशेष' वचन निमित्त के निर्देश के लिए है। मन, वचन, काय रूप योग का लक्षण पूर्व में कहा गया है। परस्पर विशिष्य होता है, वह विशेष है। योगविशेष- मन, वचन, काय के निमित्त से कर्म रूप पुद्गलों का आगमन होता है, अतः इस 'योग' विशेष से निमित्त का (कर्मों के आने के कारण का) निर्देश किया गया है।

सूक्ष्मग्रहणं ग्रहणयोग्यस्वभावप्रतिपादनार्थम्।। (4)

सूक्ष्म का ग्रहण कर्म योग्य पुद्गलों के स्वभाव का प्रतिपादन करने के लिए है, अर्थात् कर्म रूप से ग्रहण करने योग्य पुद्गल सूक्ष्म है, स्थूल नहीं,

इसका प्रतिपादन करने के लिए सूक्ष्म शब्द का प्रयोग किया है।

एकक्षेत्रावगाहवचनं क्षेत्रान्तरनिवृत्यर्थम्।। (5)

'एक क्षेत्रावगाह' वचन क्षेत्रान्तर की निवृत्ति के लिए है। आत्म प्रदेश और पुद्‌गल वर्गणाओं का अधिकरण (आकाश क्षेत्र) एक ही है भिन्न-भिन्न अधिकरण नहीं है। अतः भिन्न अधिकरण की निवृत्ति के लिए 'एक क्षेत्रावगाह' यह पद दिया गया है।

स्थिता इति वचनं क्रियान्तरनिवृत्यर्थम्।। (6)

इस सूत्र में 'स्थिति' शब्द का प्रयोग क्रियान्तर की निवृति के लिए है। स्थित ही कर्म भाव को प्राप्त होते हैं चलते हुए नहीं। क्रियान्तर स्थिता का तात्पर्य यह है कि स्थित पुद्‌गल, कर्म-भाव को प्राप्त होते हैं, चलते हुए नहीं। 'सूक्ष्म' शब्द के ग्रहण से कर्म के योग्य पुद्‌गलों के स्वभाव का निर्देश दिया गया है। अर्थात् 23 प्रकार के पुद्‌गल वर्गणाओं में जो कर्म योग्य पुद्‌गल वर्गणा है वही प्रदेश बन्ध में ग्राह्य है।

सर्वात्मप्रदेशष्विति वचनमेकप्रदेशाद्यपोहार्थम्। (7)

'सर्व आत्म प्रदेशों' में ऐसा कहने पर एक प्रदेश आदि का निषेध किया गया है। एक, दो, तीन, चार आदि प्रदेशों में आत्मा के कर्म प्रदेशों की प्रवृति नहीं है अपितु ऊपर, नीचे, बीच में सब जगह सर्वात्मप्रदेशों में व्याप्त होकर प्रत्येक आत्मप्रदेश में कर्म-पुद्‌गल स्थिति है, इस बात का ज्ञान कराने के लिए 'सर्वात्म प्रदेशेषु' यह कथन किया है। अर्थात् सर्वात्म प्रदेशों में कर्मवर्गणायें स्थित हैं। एक दो आदि में नही।

अनन्तान्तप्रदेशवचनं प्रमाणान्तरव्यपोहार्थम्।। (8)

'अनन्तानन्त प्रदेश' वचन का ग्रहण प्रमाणान्तर के निराकरण के लिए है। ये न तो संख्यात है, न असंख्यात है और न अनन्त है अपितु अनन्तानन्त हैं इसका प्रतिपादन करने के लिए 'अनन्तानन्त' शब्द का ग्रहण है। एक समय में आत्मा के साथ संबंध को प्राप्त करने वाले ये पुद्‌गल स्कंध अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं। वे-घनांगुल के असंख्येय भाग रूप क्षेत्रवगाही एक, दो, तीन, चार संख्यात असंख्यात समय की स्थिति वाली पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और चार

स्पर्श वाली तथा आठ प्रकार के कर्म रूप से परिणमन करने के योग्य पुद्गल वर्गणायें आत्मा के द्वारा योगों के कारण आत्मसात् की जाती हैं, वह प्रदेश बंध है। इस प्रकार संक्षेप से प्रदेश बंध का वर्णन समझना चाहिये। तत्वार्थसार में कहा भी है-

घनांगुलस्यासंख्येय भाग क्षेत्रावगाहिनः।। (47) (अ. 5)
एकद्वित्र्याद्यासंख्येय समयस्थितिकांस्तथा।
उष्णरुक्षहिमस्निग्धान्सर्व वर्णरसान्विन्तान्।। (48)
सर्वकर्म प्रकृत्यर्हान् सर्वेष्वपि भवेषु यत्।
द्विविधान् पुद्गलस्कन्धान् सूक्ष्मान् योगविशेषतः।। (49)
सर्वेष्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशकान्।
आत्मसात्कुरुते जीवः स प्रदेशोऽभिधीयते।

जो घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण एक क्षेत्र में स्थित है, जिनकी एक, दो, तीन आदि असंख्यात समयों की स्थिति है, जो उष्ण, रूक्ष, शीत और स्निग्ध स्पर्श से सहित है, समस्त वर्णों और समस्त रसों से सहित हैं, समस्त कर्म-प्रकृतियों के योग्य हैं, पुण्य और पाप के भेद दो प्रकार के हैं, सूक्ष्म हैं, समस्त भवों में जिनका बंध होता है तथा जो समस्त आत्मप्रदेशों के अनन्तानंत प्रदेशों को लिए हुए हैं ऐसे पुद्गलस्कन्धों को कार्मणवर्गणा के परमाणु समूह को यह जीव जो अपनी अधीन करता है वह प्रदेशबंध कहलाता है।

सव्वेसिं चेव कम्माणं, पएसग्गमणन्तगं।
गण्ठिय-सत्ताईयं, अन्तो सिद्धाण आहियं।। (96)

(उत्तराध्ययन सूत्र, पृ. 359)

एक समय में ग्राह्य बद्ध होने वाले सभी कर्मों का प्रदेशाग्र-कर्म पुद्गल रूप द्रव्य अनंत होता है। सह ग्रान्थिग तत्वों से अर्थात् ग्रन्थि भेद न करने वाले अनंत अभव्य जीवों से अनन्त गुण अधिक और सिद्धों के अनन्तवें भाग जितना होता है।

इस गाथा में योग से प्रकृति एवं प्रदेश बंध एवं कषाय से स्थिति एवं

अनुभाग बंध होता है ऐसा निर्देश कहा गया है। तो क्या स्थिति अनुभाग बंध के लिए अन्यान्य ग्रंथ में जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमादादि को कारण बताया गया है वे सब क्या मिथ्या है? अकिंचित्कर है? या धर्म द्रव्य जिस प्रकार गति हेतु में कारण है वैसे मिथ्यात्व कर्म बंध में उदासीन कारण है? नहीं, कदापि नहीं। इतना ही नहीं, इस ग्रंथ में ही मिथ्यात्व को आस्रव के साथ-साथ प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग बंध के लिए कारण बताया है। मूल-द्रव्य संग्रह का अन्तः विश्लेषण करने से तथा उसकी संस्कृत टीका से यह प्रतिभासित हो जाता है। यथा-

आस्रवे बन्धे च मिथ्यात्वाविरत्यादिकारणानि समानानि को विशेष इति चेत् नैवं- प्रथमक्षणे कर्मस्कन्धानामागमनास्रव, आगमनानंतर-

द्वितीयक्षणादौ जीवप्रदेशेष्ववस्थानं बन्ध इति भेदः।

यत एवं योगकषायाद्वन्धचतुष्टयं भवति तत् एव बन्ध।

विनाशार्थं योगकषायत्यागेन निजशुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम्।

(बृ.द्रव्य संग्रह पृ. 75)

शंकाः आस्रव और बंध के होने में मिथ्यात्व, अविरति आदि कारण समान हैं। इसलिए आस्रव और बंध में क्या भेद है?

समाधानः क्योंकि प्रथम क्षण में जो कर्म स्कन्धों का आगमन है, वह तो आस्रव है, और कर्म स्कंधों के आगमन के पीछे द्वितीय, तृतीय आदि क्षणों में जो उन कर्म स्कंधों का जीव के प्रदेशों में स्थित होना है सो बंध है। यह भेद आस्रव और बंध में है। जिस कारण से कि योग और कषायों से प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग नामक चार बंध होते हैं उसी कारण से बंध का नाश करने के अर्थ योग तथा कषाय का त्याग करके अपने शुद्ध आत्मा में भावना करनी चाहिये। यह तात्पर्य हैं

तत्त्वार्थ सूत्र आदि ग्रंथ से भी मिथ्यात्व को बंध का कारण बताया गया है। यथा

मिथ्यादर्शनाविरति प्रमादकषाययोगाबन्धहेतवः (1)

Wrong belief, non abstinence, negligence, passions and activities are the cause of bondge.

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के बन्ध के हेतु हैं।

''तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्दर्शनम्'' अर्थात् तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। मिथ्यादर्शन इससे विपरीत है। अर्थात् 'अतत्त्वार्थ श्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्'' अतत्वों का श्रद्धान करना या तत्वों का श्रद्धान नहीं करना मिथ्यादर्शन है। बंध प्रकरण में बंधों के कारण बतलाते हुए मिथ्यादर्शन को पहले ग्रहण करने का कारण यह है कि मिथ्यादर्शन समस्त बंध कारणों में से प्रधान एवं प्रथम कारण है। मिथ्यात्व को आगम शास्त्र में अनंत संसार का कारण होने से अनंत कहा गया है और उसके साथ रहने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ को अनंतानुबंधी कहा गया है। अनादि मिथ्यादृष्टि एक बार भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है तब उसका अनंत संसार का विच्छेद हो जाता है केवल अधिक से अधिक अर्द्ध-पुद्गल परिवर्तन संसार रह जाता है। यदि वह चरम शरीरी है तो तद्भव में मोक्ष जा सकता है इसलिए समन्तभद्रस्वामी ने भी कहा है-

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।। (34)

(र. श्रावकाचार)

प्राणियों के तीन कालों और तीन लोक में भी सम्यग्दर्शन के समान कल्याणरूप और मिथ्यादर्शन के समान अकल्याणरूप अन्य वस्तु नहीं है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद अनेक पाप प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। यथा

सम्यग्दर्शन शुद्धा नारकतिर्यंनपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्द्ररिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका।। (35)

सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव व्रत रहित होने पर भी नारक, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्रीपने को तथा नीच कुल,विकलांग अवस्था, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता।

मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में 16 पाप प्रकृतियों का बंध विच्छेद होता है यथा-

मिच्छत्तहुडसंढाऽसंपत्तेक्खथावरादावं।
सुहुतमियं वियलिंदिय णिरयदुणिरयाउगं मिच्छं।। (95)

(गो. सा. कर्मकांड)

1. मिथ्यात्व, 2. हुण्डक संस्थान, 3. नपुंसकवेद, 4. असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, 5. एकेन्द्रिय जाति, 6. स्थावर, 7. आतप, 8. सूक्ष्मादि तीन अर्थात् सूक्ष्म 9. अर्पाप्त, 10. साधारण विकलेन्द्रिय तीन अर्थात्, 11. दो इन्द्रिय, 12. तीन इन्द्रिय 13. चौ इन्द्रिय, 14. नरक गति, 15. नरकगत्यानुपूर्वी, 16. नरकायु। ये सोलह प्रकृतियाँ हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत समय में इनकी बंध व्युच्छित्ति हो जाती हैं। अर्थात् मिथ्यात्व से आगे के गुणस्थानों में इनका बंध नहीं होता।

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोस मोह जुदो।
असुहो मोहपदेशो सुहो व असुहो हवदि रागो।। (180)

परिणाम से बंध होता है, वह परिणाम राग द्वेष मोह युक्त है। मोह और द्वेष अशुभ हैं। राग शुभ अथवा अशुभ होता है।

इस प्रकार से मिथ्यादर्शन आदि पाँचों मिलकर या पृथक्-पृथक् बंध के हेतु हैं। खुलासा इस प्रकार है- मिथ्यादृष्टि जीव के पाँचों ही मिलकर बंध के हेतु हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि के आदि के चार बंध के हेतु हैं। संयतासंयत के विरति और अविरति ये दोनों मिश्ररूप तथा प्रमाद, कषाय और योग के बंध के हेतु हैं। अप्रमत्तसंयत आदि चार के योग और कषाय ये दो बंध के हेतु हैं। उपशांत आदि चार के योग और कषाय के ये दो बंध के हेतु हैं। उपशांत कषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली इनके एक योग ही बंध का हेतु है। अयोगकेवली के बंध का हेतु नहीं है।

(स्वतंत्रता के सूत्र. पृ. 466)

आचार्य कुन्द-कुन्द देव ने बारस अणुपेक्खा में भावपरावर्तन रूप भाव संसार का वर्णन करते हुए कहा है-

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभाग पदेसंबंधठण्णाणि।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भाव संसारे। (29) पृ. 16

इस भाव परिवर्तन रूप संसार में मिथ्यात्व के वशीभूत जीव ने सभी (आठों) कर्मों के प्रकृतिबंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध के सभी स्थानों में बार-बार भ्रमण किया है।

(दंसणमूलो धम्मो, पृ. 27)

उपरोक्त आगम के आकट्य प्रमाण होते हुए भी कुछ श्रमण-गण एवं पंडित आदि मिथ्यात्व को बंध के प्रकरण में अकिंचित्कर, उदासीन कारण या अधिकरण मानते हैं। यह मानना पूर्ण आगम विरुद्ध कपोल-कल्पित, अविचारित-रम्य है। मिथ्यात्व आस्रव बंध में अकिंचित्कर नहीं है परंतु अतिकर है, उदासीन नही है, पर प्रेरक कारण है, अधिकरण नहीं, अधिककरण है ऐसी आगमोक्त युक्ति परक सिद्धि मैने ''दंसण मूलो धम्मो तहा संसार मूलहेतु मिच्छत्तं' में की है। विशेष जिज्ञासु उसका अध्ययन करें।

भाव संवर एवं द्रव्य संवर

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू।
सो भाव संवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो।। (34)
चेतन परिणामो यः कर्म्मणः आस्रवनिरोधने हेतुः।
सः भावसंवरः खलु द्रव्यास्रवरोधनेः अन्यः।।

That modification of consciousness which is the cause of checking Asrava (Influx) of Karma, is surely Bhavasamvara, and the other (known as Dravyasamvara is known from) checking Dravyasrava.

जो चेतन का परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है, उसको निश्चय से भाव संवर कहते हैं और जो द्रव्यास्रव का रूकना है उसे द्रव्य संवर कहते हैं।

क्रम प्राप्त संवर तत्त्व का वर्णन इस गाथा में किया गया है। भावसंवर एवं द्रव्यसंवर रूप से संवर दो प्रकार के हैं। आस्रव तत्त्व का विरोधी तत्व संवर होने के कारण जिन वैभाविक योग एवं उपयोग से आस्रव होता है उस वैभाविक योग एवं उपयोग के जितने जितने अंश में हानि होती है एवं स्वाभाविक परिणति, भाव/उपयोग की वृद्धि होती है उतने-उतने अंश में संवर होता जाता है। जिन आत्मिक गुणों के कारण आस्रव का निरोध होता है उसे भाव संवर कहते हैं और इस भाव संवर के कारण द्रव्य आस्रव का रूकना है उसे द्रव्य संवर कहते हैं अर्थात् भाव संवर कारण है तो द्रव्य संवर कार्य है।

मिथ्यात्व गुणस्थान आध्यात्मिक दृष्टि से सबसे पतित गुणस्थान होने

के कारण मिथ्यात्व गुणस्थान में पूर्णतः वैभाविक परिणाम रहता है इसलिए इस गुणस्थान मे आस्रव एवं बंध ही होता है। परंतु मोक्ष के कारणभूत संवर एवं निर्जरा नही होती है। सासादन और मिश्र गुणस्थान में मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा कुछ अशुभ परिणाम उत्तरोतर कम रहता है। चतुर्थ, पंचम एवं छठे गुणस्थान में उत्तरोतर शुभ उपयोग रहता है। सप्तम गुणस्थान से लेकर बाहरवें गुणस्थान तक उत्तरोतर एक देश शुद्धोपयोग रहता है।

तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग रहता है। चौदहवें गुणस्थान में योग भी नहीं रहता है। इसलिए द्वितीय गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक अधिक से अधिक संवर एवं निर्जरा होती है तथा चौदहवें गुणस्थान से अंतिम समय में पूर्ण मोक्ष हो जाता है।

'संवर' इस शब्द से कहे जाने योग्य जो शुद्धोपयोग है सो संसार के कारणभूत जो मिथ्यात्व, राग आदि अशुद्ध पर्याय है उनकी तरह अशुद्ध नहीं होता है और इसी प्रकार फलभूत जो केवलज्ञान स्वरूप पर्याय है उसकी भांति शुद्ध भी नहीं होता है, किंतु उन अशुद्ध तथा शुद्ध पर्यायों से विलक्षण, शुद्ध आत्मा के अनुभव स्वरूप निश्चय रत्नत्रय, मोक्ष का कारण, एक देश में व्यक्त रूप (प्रकट रूप) और एक देश में आवरण रहित ऐसा तृतीया अवस्थान्तर रूप कहा जाता है। (बृहद्द्रव्संग्रहः पृ. 77) गोम्मट्टसार जीवकांड में स्पष्ट रूप से उपर्युक्त सिद्धांत का प्रतिपादन निम्न प्रकार किया है-

सोलस पणवीस णभं दस चउ छक्केक्क बंधवोछिण्णा।
दुग तीस चदुरपुव्वे सोलस जोगिणो एक्को।। (94) पृ. 38

मिथ्यादृष्टि- पहले गुणस्थान के अंत समय में सोलह प्रकृतियाँ बंध न होने से व्युच्छिन्न होती हैं (बिछुड़ जाती हैं) अर्थात् पहले गुणस्थान तक ही उनका बंध होता है, उससे आगे के गुणस्थानों में उनका बंध नहीं होता है। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान में 25 प्रकृतियों की व्युच्छिति होती है। तीसरे में शून्य अर्थात् किसी प्रकृति की व्युच्छित्ति नहीं होती है। चौथे में दस की, पांचवें में चार की, छट्ठे में छह की, सातवें में एक प्रकृति की व्युच्छित्ति होती है। आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के सात भागों में से पहले

भाग में दो की तथा दूसरे भाग से पांचवें भाग तक शून्य, छठे भाग में तीस की, सातवें भाग में चार प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति होती है। नवें में पाँच की, दसवें में सोलह की, ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान में शून्य, तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान में एक प्रकृति की बंध व्युच्छित्ति होती है। चौदहवें गुणस्थान में बंध भी नहीं और व्युच्छित्ति भी नहीं होती। क्योंकि वहां पर बंध के कारण का ही अभाव है।

मिथ्यादर्शन की प्रधानता से जिस कर्म का आस्रव होता है उसका मिथ्यादर्शन के अभाव में शेष रहे सासादन, सम्यक्दृष्टि आदि में संवर होता हैं- वह कर्म कौन है? मिथ्यात्त्व, नपुंसक वेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डक संस्थान, असंप्राप्ता सृपाटिका संहनन, नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक और साधारण शरीर यह सोलह प्रकृति रूप कर्म है।

असंयम के तीन भेद हैं- अनंतानुबंधी का उदय, अप्रत्याख्यानावरण का उदय और प्रत्याख्यानावरण का उदय। इसलिए इसके निमित्त से जिस कर्म का आस्रव होता है उसका इसके उदय से होने वाली असंयम की मुख्यता से आस्रव को प्राप्त होने वाली निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया, अनन्तानुबंधी लोभ, स्त्री वेद, तिर्यंचायु, तिर्यंच गति, मध्य के चार संस्थान, मध्य के चार संहनन तिर्यंच गति प्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति- दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीच गोत्र इन पच्चीस प्रकृतियों का एकेन्द्रियों से लेकर सासादन सम्यक्दृष्टि गुणस्थान तक के जीव बंध करते हैं, अतः अनन्तानुबंधी के उदय से होने वाले असंयम के अभाव में आगे इनका संवर होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले असंयम की मुख्यता से आस्रव को प्राप्त होने वाले अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ, मनुष्यायु, मनुष्य गति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभनाराच संहनन और मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी इन दश प्रकृतियों का एकेन्द्रियों से लेकर असंयत सम्यकृदृष्टि गुणस्थान तक के

जीव बंध करते हैं। अतः अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले असंयम के अभाव में आगे इनका संवर होता है। प्रमाद के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाले असंयम के अभाव में संवर होता है। जो कर्म प्रमाद निमित्त से आस्रव को प्राप्त होता है, उसका प्रमत्त संयत गुणस्थान के आगे प्रमाद न रहने के कारण जानना चाहिए। वह कर्म कौन है? असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति रूप प्रकृतियों के भेद से वह कर्म छह प्रकार का है। देवायु के बंध का आरंभ प्रमाद हेतुक भी होता है और उसके नजदीक का अप्रमाद हेतुक भी, अतः इसका अभाव होने पर उसका संवर जानना चाहिये, जिस कर्म का मात्र कषाय के निमित्त से आस्रव होता है, प्रमादादिक के अभाव में होने वाला वह कषाय तीव्र, मध्यम और जघन्य रूप से तीन गुणस्थानों में अवस्थित है। उनमें से अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रारंभिक संख्येय भाग में निद्रा और प्रचला ये दो कर्म प्रकृतियाँ बंध को प्राप्त होती हैं। इससे आगे संख्येय भाग में देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर तैजस शरीर, कार्माण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रियिक शरीर, अंगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरूलघु, उपघात, परघात, उच्छवास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर ये तीस प्रकृतियाँ बंध को प्राप्त होती हैं तथा इसी गुणस्थान के अंतिम समय में हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये चार प्रकृतियाँ बन्ध को प्राप्त होती है। ये तीव्र कषाय से आस्रव को प्राप्त होने वाली प्रकृतियाँ इसलिए तीव्र कषाय का उत्तरोत्तर अभाव होने से विवक्षित भाग के आगे उनका संवर होत है। अनिवृत्ति बादर साम्पराय के प्रथम समय से लेकर आगे संख्यात भागों में वे पुंवेद और क्रोध संज्वलन का बंध होता है। इससे आगे शेष रहे संख्यात भागों में मान संज्वलन और माया संज्वलन ये दो प्रकृतियां बंध को प्राप्त होती हैं और उसी के अंतिम समय में लोभ संज्वलन बंध को प्राप्त होता है। इन प्रकृतियाँ का मध्यम कषाय के निमित्त से आस्रव होता है अतएव मध्यम कषाय के उत्तरोत्तर अभाव होने पर विवक्षित भाग के आगे उनका संवर होता है। मंद कषाय के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाली पाँच

ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशःकीर्ति उच्चगोत्र और पांच अन्तराय इन सोलह प्रकृतियों का सूक्ष्मसाम्पराय जीव बंध करता है, अतः मंद कषाय का अभाव होने से इनका संवर होता है। केवल योग के निमित्त से आस्रव को प्राप्त होने वाली असाता वेदनीय का उपशांत कषाय, क्षीणकषाय और सयोग केवली जीवों के बंध होता है। योग का अभाव हो जाने से अयोग केवली के उसका संवर होता है।

भाव संवर के भेद

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा।। (35)
व्रतसमितिगुप्तयो धर्म्मानुप्रेक्षाः परीषहजयः च।
चारित्रं बहुभेदं ज्ञातव्याः भाव संवर विशेषाः।।

The Vratas (vows), Samitis (attitudes of carefulness), Guptis (restraints), Dhramas (obserbances), Anupreksas (Meditations), Parishaha-jayas (the victories over troubles) and various kinds of Charitra (conduct are to be known as varieties of Bhava-samvara)

पांच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म बारह अनुप्रेक्षा बाईस परीषहों का जय तथा अनेक प्रकार का चरित्र इस प्रकार ये सब भावसंवर के भेद जानना चाहिये।

पूर्वोक्त गाथा में सामान्यतः भावसंवर एवं द्रव्य संवर का वर्णन किया था। परंतु इस गाथा मे ं आचार्य श्री ने भाव संवर के भेद प्रभेदों का भी वर्णन किया है। सामान्यतः आत्मा के स्वाभाविक भाव ही संवर के लिए कारण होने से भाव संवर एक ही प्रकार के हैं परंतु विवक्षा भेद से उनके अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं- यथा-

(I) **व्रत-** हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूपी पाँच पापों को त्याग करना व्रत है।

(1) **अहिंसा-** दूषित भावों का नहीं होना भाव अहिंसा है। भाव अहिंसा

के साथ-साथ स्व-परक भाव प्राण एवं द्रव्य प्राणों का हनन नहीं करना द्रव्य अहिंसा है।

(2) **सत्य-** भावों की निर्मलता के साथ ही सत्यग्राही बनना एवं स्व-पर के हित के लिए हित-मित-प्रिय वचन बोलना सत्य है।

(3) **अचौर्य-** भाव की निर्मलता के साथ पर वस्तुओं को स्वीकार न करना अचौर्य है।

(4) **ब्रह्मचर्य-** स्व परम ब्रह्म की उपलब्धि के लिए पाँचों इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त होकर समता रस का पान करना ब्रह्मचर्य है।

(5) **अपरिग्रह -** स्व शुद्ध आत्मतत्त्व को छोड़कर समस्त अंतरंग एवं बहिरंग परिग्रहों का त्याग करना अपरिग्रह है।

(II) **समिति-** स्व-पर की रक्षा करते हुए समुचित रीति से गमन करना, भाषण करना, भोजन करना, वस्तुओं को रखना-उठाना और मलमूत्र त्याग करने को समिति कहते हैं। समिति पाँच प्रकार की हैं। यथा-

(1) **ईर्या समिति -** किसी सम्यक् प्रयोजन के लिए गमन करते हुए प्रकाश युक्त निर्जीव भूमि में आगे की चार हाथ जमीन को देखते हुए जीवों की रक्षा करते हुए गमन करना ईर्या समिति है।

(2) **भाषा समिति -** स्व-पर के लिए आगमोक्त विषय को चुगली, हँसी, कठोरता, पर-निंदा, आत्मप्रशंसा, विकथा आदि से रहित होकर संक्षिप्त से प्रतिपादन करना भाषा समिति है।

(3) **एषणा समिति -** निर्दोष सात्विक शाकाहार भोजन आत्म-साधना के लिए करना एषणा समिति है।

(4) **आदान-निक्षेपण समिति -** धार्मिक उपकरण जैसे- शास्त्रादि को यत्नपूर्वक परिमार्जित करके उठाना, रखना आदान निक्षेपण समिति है।

(5) **प्रतिष्ठापन समिति -** एकांत, जीव-वस्तु रहित, जन-ग्राम नगरादि से दूर मर्यादित विस्तृत और अविरोध स्थान में मल-मूत्र स्थापित करना प्रतिष्ठापन समिति है।

(III) **गुप्ति-** मन, वचन, काय की स्वच्छंद प्रवृत्ति को रोकना या आत्मा

को काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि वैभाविक भावों से गुप्त रखना गुप्ति है। गुप्ति तीन प्रकार की है। (1) मन गुप्ति (2) वचन गुप्ति और (3) काय गुप्ति।

(1) **मन गुप्ति –** मन में राग–द्वेषादि न करना एवं मन को आत्मा में स्थिर करना मन गुप्ति है।

(2) **वचन गुप्ति –** अंतरंग राग–द्वेषादि अन्तर्जल्प से रहित होना एवं वचन प्रवृति को रोकना वचन गुप्ति है।

(3) **काय गुप्ति –** मन को राग–द्वेषादि से रहित करते हुए शरीर को भी स्थित रखना काय गुप्ति है।

(IV) **धर्म –** आत्मा का स्व शुद्ध स्वरूप ही आत्मा का धर्म है। लक्षण भेद से धर्म के 10 भेद हो जाते हैं। यथा– (1) उत्तम क्षमा (2) उत्तम मार्दव (3) उत्तम आर्जव (4) उत्तम शौच (5) उत्तम सत्य (6) उत्तम संयम (7) उत्तम तप (8) उत्तम त्याग (9) उत्तम आकिंचन्य (10) उत्तम ब्रह्मचर्य।

(1) **उत्तम क्षमा –** उत्तम साम्य–भाव से क्रोध कषाय पर विजय प्राप्त करना उत्तम क्षमा है।

(2) **उत्तम मार्दव –** धन, ज्ञान, तप, आयु आदि से युक्त होते हुए भी अभिमान न करना, समता भाव से रहना उत्तम मार्दव धर्म है।

(3) **उत्तम आर्जव –** मन, वचन काय में सहज–सरल निष्कपट रहना उत्तम आर्जव है।

(4) **उत्तम शौच –** लोभ जनित, तृष्णा को हटाकर संतोषामृत का पान करना उत्तम शौच धर्म है। वा शुचि/पवित्र/निर्मल भाव को धारण करना उत्तम शौच धर्म है।

(5) **उत्तम सत्य –** हित–मित–आगमोक्त वचन बोलना वाचनिक सत्य है। प्रत्येक द्रव्य सत्–स्वरूप है, यह द्रव्य सत्य है। परमोपादेय आत्मा की उपलब्धि की भावना–भाव सत्य है और उस स्व–आत्म तत्व की उपलब्धि ही परम उत्तम सत्य धर्म है।

(6) **उत्तम संयम –** पाँचों इन्द्रिय एवं मन को दुष्प्रवृत्ति से हटाना एवं संपूर्ण जीवों की रक्षा करना उत्तम संयम धर्म है।

(7) उत्तम तप – सांसारिक इच्छाओं को रोकना एवं समता भाव में रहना या आत्म उन्नति के लिए साधना करना उत्तम तप है।

(8) उत्तम त्याग – समस्त बाह्य वस्तुओं में राग-द्वेष नहीं करना उत्तम त्याग है।

(9) उत्तम आकिंचन्य – स्व आत्म-तत्त्व को छोड़कर अन्य समस्त चेतन-अचेतन द्रव्य, मेरा नहीं है, इस भावना से उनसे निवृत्त हो जाना उत्तम आकिंचन्य है।

(10) उत्तम ब्रह्मचर्य – उत्तम अकिंचन्य धर्म से युक्त होकर स्व आत्मा में रमन करना उत्तम ब्रह्मचर्य है।

(v) **अनुप्रेक्षा** – वस्तु स्वरूप का, सत्य स्वरूप का, स्व-पर का अथवा अनित्य आदि भावनाएँ हैं उनका बार-बार चिंतन करना या प्रेक्षण करना अनुप्रेक्षा है। जितनी अच्छी भावनायें हैं जिनको बार-बार चिंतन किया जाता है वे सभी भावना अनुप्रेक्षा हैं। इसलिए अनुप्रेक्षा संख्यात, असंख्यात हैं। परंतु अनित्यादि 12 अनुप्रेक्षा में अन्य-अन्य अनुप्रेक्षायें भी गर्भित हो जाती हैं। इसलिये शास्त्र में 12 ही अनुप्रेक्षाओं का वर्णन पाया जाता है। यथा- (1) अनित्य अनुप्रेक्षा (2) अशरण अनुप्रेक्षा (3) संसार अनुप्रेक्षा (4) एकत्व अनुप्रेक्षा (5) अन्यत्व अनुप्रेक्षा (6) अशुचि अनुप्रेक्षा (7) आस्रव अनुप्रेक्षा (8) संवर अनुप्रेक्षा (9) निर्जरा अनुप्रेक्षा (10) लोक अनुप्रेक्षा (11) बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा (12) धर्म अनुप्रेक्षा।

(1) अनित्य अनुप्रेक्षा – प्रत्येक द्रव्य नित्य होने पर भी उनकी पर्यायें या अवस्थायें अनित्य होती हैं। शरीर, इन्द्रिय जनित विषय भोग, धन, संपत्ति आदि वैभाविक पर्यायें हैं। इसलिए ये सब अनित्य हैं, अध्रुव हैं। स्व-शुद्ध आत्म तत्त्व ही स्वयं के लिए ध्रुव है, नित्य है।

(2) अशरण अनुप्रेक्षा – परम शरणभूत स्व-ध्रुव, निश्चल, अविनाशी, आत्म-तत्त्व को छोड़कर समस्त बाह्य माता-पिता, भाई-बहन, मंत्र-यंत्र, औषधि, सैन्य शक्ति, प्रभुता, सत्ता आदि अशरणभूत हैं। व्यवहार से पंच परमेष्ठी शरणभूत हैं।

(3) संसार अनुप्रेक्षा – मिथ्यात्व आदि वैभविक भाव ही संसार है

क्योंकि इसके कारण ही जीव संसार में संसरण/परिभ्रमण करता है। मिथ्यात्वादि भाव पर भाव होने के कारण मिथ्यावादि भाव, उससे जायमान कर्म एवं कर्म का फल भी दुःख स्वरूप है।

(4) एकत्व अनुप्रेक्षा –

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि।। (43)

(समयसार)

ज्ञानी जीव विचार करता है कि मैं एकाकी हूँ, शुद्ध हूँ अर्थात् पर द्रव्य के संबंध से सर्वथा रहित हूँ, दर्शन-ज्ञानमयी हूँ और सदा अरूपी हूँ अतः इन सब ब्राह्य पर द्रव्यों से मेरा संबंध परमाणु मात्र भी नहीं है। ऐसा जो स्वयं आत्म तत्त्व को स्वतंत्र, स्वावलंबी पर- द्रव्यों से भिन्न स्व-द्रव्य के चिंतन को एकत्व भावना कहते हैं।

(5) **अन्यत्व अनुप्रेक्षा–** एकत्व अनुप्रेक्षा विधिपरक है तो अन्यत्व अनुप्रेक्षा निषेध परक है। जब स्व-आत्म तत्त्व ही अपना है तो स्वयं सिद्ध हो जाता है कि आत्म तत्त्व को छोड़कर चेतन-अचेतन मिश्र द्रव्य सब पर है। इसलिए बाह्य धन, वैभव, माता-पिता, स्त्री के साथ-साथ स्व शरीर, कर्म और वैभाविक भाव भी अन्य है।

(6) **अशुचि अनुप्रेक्षा–** यह शरीर अत्यंत अशुचि पदार्थों की योनि है। शुक्र और शोणितरूप अशुचि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त हुआ है, शौचगृह के समान अशुचि पदार्थों का गृह है, त्वचा मात्र से आच्छादित है, अति दुर्गंध रस को बहाने वाला झरना है। अंगार के समान अपने आश्रय में आये हुए पदार्थ को भी शीघ्र ही नष्ट करता है। स्नान, अनुलेपन, धूप की मालिश और सुगन्धिमाला आदि के द्वारा भी इसकी अशुचिता को दूर कर सकना शक्य नहीं है। किंतु अच्छी तरह भावना किए गए सम्यग्दर्शन आदिक जीव की आत्यान्तिक शुद्धि को प्रकट करते हैं। इस प्रकार वास्तविक रूप से चिंतन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिंतन करने वाले इस शरीर से निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर जन्मोदधि को तैरने के लिए चित्त को लगाता है।

(7) **आस्रवानुप्रेक्षा–** आस्रव इस लोक और परलोक में दुःखदायी है। महानदी के प्रवाह के वेग के समान तीक्ष्ण है तथा इन्द्रिय, कषाय और अव्रत रूप है। उनमें से स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ वन गज, कौआ, सर्प, पतंग, हरिण आदि को दुःख रूप समुद्र में अवगाहन कराती है। कषायआदिक भी इस लोक में वध, अपयश और क्लेशादिक दुःखों को उत्पन्न करते है तथा परलोक में नाना प्रकार के दुःखों से प्रज्ज्वलित नाना गतियों में परिभ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आस्रव के दोषों का चिंतन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिंतन करने वाले इस जीव के क्षमादिक में कल्याण रूप बुद्धि का त्याग नहीं होता है तथा कछुए के समान जिसने अपनी आत्मा को संवृत कर लिया है उसके यह सब आस्रव के दोष नहीं होते हैं।

(8) **संवरानुप्रेक्षा–** जिस प्रकार महार्णव में नाव के छिद्र के नहीं ढके रहने पर क्रम से झरे हुए जल से व्याप्त होने पर उसके आश्रय से बैठे हुए मनुष्यों का विनाश अवश्यम्भावी है और छिद्र के ढके रहने पर निरस द्रव रूप से अभिलषित देशांतर का प्राप्त होना अवश्यम्भावी है। उसी प्रकार कर्मागम के द्वार के ढके होने पर कल्याण का प्रतिबंध नहीं होता। इस प्रकार संवर के गुणों का चिंतन करना संवरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिंतन करने वाले इस जीव के संवर में निरंतर उत्कंठा होती है और इससे मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

(9) **निर्जरानुप्रेक्षा–** वेदना–विपाक का नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की है– अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियों में कर्मफल के विपाक से जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है वह अकुशलतानुबंधा है तथा परीषह के जीतने पर जो निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है। वह शुभानुबंधा और निरनुबंधा होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुणदोष का चिंतन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिंतन करने वाले के इसकी कर्मनिर्जरा के लिए प्रवृति होती है।

(10) **लोकानुप्रेक्षा–** चारों ओर से अनन्त अलोकाकाश के बहुमध्यदेश में स्थित लोक के संस्थान आदि की विधि उसके स्वभाव का अनुचिंतन लोकानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करने वाले इसके तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है।

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो।

जीवाजीवेहिं फुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो। (75)

(मू.चा. पृ. 14)

निश्चय से यह लोक अकृत्रिम, अनादि-अनन्त, स्वभाव से सिद्ध, नित्य और तालवृक्ष के आकार वाला है तथा जीवों और अजीवों से भरा हुआ है।

तत्थणुहवन्ति जीवा सकम्म णिव्वत्तियं सुहं दुक्खं।
जम्मणमरणपुणब्भवमणंतभवसायरे भीमे। (717)

इस लोक में जीव अपने कर्मों द्वारा निर्मित सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। भयानक अनन्त भव समुद्र में पुनः पुनः जन्म-मरण करते हैं।

(11) **बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा-** एक निगोदशरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों से सब लोक निरंतर भरा हुआ है। अतः इस लोक में त्रस पर्याय का प्राप्त होना इतना दुर्लभ है जितना कि बालुका के समुद्र में पड़ी हुई वज्रसिकता की कणिका का प्राप्त होना दुर्लभ होता है। उसमें भी विकलेन्द्रिय जीवों की बहुलता होने के कारण गुणों में जिस प्रकार कृतज्ञता गुण का प्राप्त होना बहुत दुर्लभ होता है उसी प्रकार पंचेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। उसमें भी पशु, मृग पक्षी और सरीसृप तिर्यंचों की बहुलता होती है, इसलिए जिस प्रकार चौराहे पर रत्नराशि का प्राप्त होना अति कठिन है उसी प्रकार मनुष्य पर्यायका प्राप्त होना भी अति कठिन है और मनुष्य पर्याय के मिलने के बाद उसके च्युत हो जाने पर पुनः उसकी उत्पत्ति होना इतना कठिन होता है जितना कि जले हुए वृक्ष के पुद्‌गलों की पुनः वृक्ष पर्याय रूप में उत्पन्न होना कठिन होता है। कदाचित् इसकी पुनः प्राप्ति हो जाए तो देश कुल, इन्द्रिय सम्पत् और निरोगता इनका प्राप्त होना उत्तरोतर दुर्लभ है। इन सबके मिल जाने पर भी यदि समीचीन धर्म की प्राप्ति न होवे तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ होता है उसी प्रकार मनुष्य जन्म का प्राप्त होना व्यर्थ है इस प्रकार अतिकठिनता से प्राप्त होने योग्य उस धर्म को प्राप्त कर विषय में रमायमाण होना भस्म के लिए चंदन को जलाने के समान निष्फल है। कदाचित् विषय सुख से विरक्त हुआ तो भी इसके लिए

तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सुख पूर्वक समाधि को प्राप्त होना अतिदुर्लभ है। इसके होने पर ही बोधिलाभ सफल है ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। इस प्रकार भावना करने वाले इस जीव को बोधि को प्राप्त करने के लिए कभी भी प्रमाद नहीं होता।

(12) **धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षाः–** जिनेन्द्र देव ने यह जो अहिंसालक्षण धर्म कहा है, सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड़ है, क्षमा उसका फल है, ब्रह्मचर्य से रक्षित है उपशम की उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है। उसकी प्राप्ति नहीं होने से दुष्कर्म विपाक से जायमान दुःख को अनुभव करते हुए ये जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करते हैं। परंतु इसका लाभ होने पर नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्तिपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है ऐसा चिंतन करना धर्मस्वाख्याततत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिंतन करने वाले जीव के धर्मानुरागवश प्राप्त के लिए सदा यत्न होता है।

(VI) बाईस परिषह

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्या।
क्रोशववधयाचनालाभ रोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि। (9)

(स्वतंत्रता के सूत्र पृ. 561)

क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार–पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन नाम वाले परीषह हैं।

ब्राह्य और आभ्यन्तर कारणों से जो शारीरिक और मानसिक पीड़ा के कारणभूत क्षुधादि परीषह हैं, उसे मोक्षमार्ग के पथिक को साम्य भाव से सहन करना चाहिए तथा जीतना चाहिए। क्योंकि पीरषहों को नहीं जीतने पर और जब सहन नहीं होते हैं तब उससे विविध कर्म बंध हो जाते हैं। परीषह एवं उपसर्ग भी पूर्वोपार्जित कर्म से आते हैं। उस कष्ट को साम्य भाव से सहन करने से पूर्वोपार्जित कर्म की प्रचुर निर्जरा होती है। इसलिए ज्ञानी पूर्वोपार्जित कर्मों का निर्जरा करने के लिए एवं रत्नत्रय से च्युत नहीं

होने के लिए कष्टों को साम्य भाव से सहन करते है।

(1) **क्षुधा परीषहजय–** प्रकृष्ट क्षुधारूपी अग्नि की ज्वाला को धैर्यरूपी जल से शांत करना, साम्यभाव से सहन करना है।

(2) **पिपासा परीषहजय–** तृषा (प्यास) की उदीरणा के कारण मिलने पर भी प्यास से वशीभूत नहीं होना उसके प्रतिकार को नहीं चाहना, साम्यभाव से सहन करना पिपासा सहन हैं।

(3) **शीत परीषहजय–** शीत के कारणों के सन्निधान में शीत के प्रतिकार की अभिलाषा नही करना संयम का परिपालन करना, साम्यभाव से सहन करना शीत परीषहजय कहलाता है।

(4) **उष्ण परीषहजय–** चारित्र की रक्षा करने के लिए दाह का प्रतिकार करने की इच्छा का अभाव होना, साम्यभाव से सहन करना उष्ण परीषह सहन है।

(5) **दंशमशक परीषहजय–** दंशमशक की बाधा सहन करना, उसका प्रतिकार नहीं करना, साम्यभाव से सहन करना, दंशमशक परीषहजय कहलाता है।

(6) **नाग्न्य परिषहजय–** जातरूप (जन्म–अवस्था के समान निराभरण, निर्वस्त्र, निर्विकार रूप) धारण करना नाग्न्य है। गुप्ति, समिति की अविरोधी परिग्रह निवृत्ति और परिपूर्ण ब्रह्मचर्य अप्रार्थिक मोक्ष के साधन–चारित्र का अनुष्ठान करना यथाजात रूप है। अविकारी (शरीर) संस्कारों से रहित, स्वाभाविक, मिथ्यादृष्टियों के द्वारा द्वेषकृत होने पर भी परम माङ्गल्य ऐसी यथाजातरूप नाग्न्य अवस्था के धारक, स्त्री रूप को नित्य अशुचि, वीभत्स और शव–कंकाल के समान देखने वाले वैराग्य भावनाओं से मनोविकार को जीतने वाले और सामान्य मनुष्यत्व के द्वारा असंभावित ऐसे विशिष्ट मानव रूपधारी साधुगणों के नाग्न्य दोषों (लिंगविकार, मनोविकार आदि दोषों) का स्पर्श नहीं होने से नाग्न्य परीषह से जय की सिद्धि होती है।

(7) **अरति परीषहजय–** संयम से रति करना अरति परीषहजय कहलाता है। क्षुधा आदि की बाधा सताने पर संयम की रक्षा में,

इन्द्रियों को बड़ी कठिनता से जीतने में व्रतों के भले प्रकार पालन करने के भार की गुरुता प्राप्त होने पर, सदैव प्रमाद रहित परिणामों को सम्हाल करने में, भिन्न-भिन्न देशभाषाओं से नहीं जानने पर विरह और चपल प्राणियों से भरे भयानक मार्गों में अथवा राज्य के कर्मचारियों आदि से भयानक परिस्थिति में नियत रूप से एकाकी विहार करने आदि से जो अरति (खेद) उत्पन्न होती है उसे वे धैर्य विशेष से निवारण करते हैं। संयम विषयक रति (अनुराग) भावना के बल से विषय सुख रति को (विषयानुराग को) विष मिश्रित आहार के सेवन के समान विपाक से कटु मानने वाले उन परम संयमीजन के रति परीषह बाधा का अभाव होने से अरति परीषहजय होता है।

(8) **स्त्री परीषहजय** – वराङ्गनाओं के रूप देखना, उनका स्पर्श करना आदि के भावों की निवृत्ति स्त्री परीषहजय है।

(9 **चर्या परीषहजय**– गमन के दोषों का निग्रह करना चर्या परीषहजय कहलाता है। परिभ्रमण करने वाले साधुजन मार्ग में कठोर कंकड़ आदि पैरों के कट जाने पर और छिल जानेपर भी खेद का अनुभव नहीं करते हैं न इन्हें साधुओं को खेद का अनुभव नहीं होता है। पूर्व में अनुभव किए हुए उचित यान-वाहन आदि का स्मरण नहीं करते हैं, सम्यक् प्रकार से गमन के दोषों का परिहार करते हैं, उन साधुओं के चर्या-परीषहजय होता है अर्थात् ऐसे साधु चर्या परीषहजयी होते हैं।

(10) **निषद्या परीषहजय** – संकल्पित आसन से विचलित नहीं होना निषद्यापरीषहजय होता है। वीरासन, उत्कुटिकासन आदि जिस आसन से बैठते हैं, उस संकल्पित आसन से दूसरे आसन की पलटना नहीं करते, हिलना आदि आसन-दोषों को जीतते हैं, उन परम संयमीजनों को निषद्या परीषहजय होता है अर्थात् वे ही साधु निषद्या परीषह के विजयी होते हैं।

(11) **शयन परीषहजय** – आगम में कथित शयन से चलित नहीं होना, आगमानुसार शयन करना शयन परीषहजय कहलाता है।

(12) **आक्रोश परीषहजय** – अनिष्ट वचनों को सहन करना आक्रोश

परीषहजय है। तीव्र मोहाविष्ट मिथ्यादृष्टि आर्य, म्लेच्छ, खल (दुष्ट) पापाचारी, मत्त (पागल), उद्दृप्त (घमंड), शंकित आदि दुष्टजनों के द्वारा प्रयुक्त मा शब्द, धिक्कार शब्द, तिरस्कार अवज्ञा के सूचक कठोर, कर्कश, कानों को बधिर करने वाले, हृदय भेदी, हृदय में शूल के उत्पादक, क्रोधरूपी अग्नि की ज्वालाओं को बढ़ाने वाले और अप्रिय गाली आदि वचनों को सुनकर भी स्थिर चित्त रहने वाले, भस्म करने का सामर्थ्य होते हुए भी परमार्थ (तत्त्वविचार) में अवगाहित चित्तवाले, शब्द मात्र को श्रवण कर कटु शब्दों के अर्थ के विचार से पराङ्मुख, ''यह मेरे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म का उदय ही है जिससे मेरे प्रति इनका द्वेष है,'' इत्यादि पुण्य भावनाओं के चिंतन रूप उपायों के द्वारा सुभावित साधु का अनिष्ट वचनों का सहन करना आक्रोश परीषहजय है।

(13) **वध परीषहजय–** मारने वालों के प्रति भी क्रोध नहीं करना वध परीषहजय है।

(14) **याचना परीषहजय –** प्राण जाने पर भी आहारादिकी याचना नहीं करना, दीनता से निवृत्त होना याचना परीषहजय है।

(15) **अलाभ परीषहजय –** अलाभ में भी लाभ के समान संतुष्ट होने वाले तपस्वी के अलाभ परीषहजय होता है। भिक्षा के नहीं मिलने पर भी संक्लेश परिणाम नहीं करने वाले, रंचमात्र भी चित्त को मलिन नही करने वाले परम तपस्वी के अलाभ परीषहजय होता है, वे साधु यह न सोचते हैं और न कहते हैं ''यहाँ दाता नहीं है, वहां बड़े–बड़े दानी उदार दाता हैं,'' वे परम योगी लाभ से भी अलाभ में परम तप मानते हैं। इस प्रकार लाभ की अपेक्षा अलाभ में अधिक संतुष्ट होने वाले अलाभ परीषहजय है। ऐसा जानना चाहिये।

(16) **रोग परीषहजय –**नाना व्याधियों के प्रतिकार की इच्छा नहीं करने वाले या साम्यभाव से सहन करने वाले मुनि के रोग परीषहजय होता है।

(17) **तृण परीषहजय –** तृणादि के निमित्त के वेदना के होने पर भी

मन का निश्चल रहना उसमें दुःख नहीं मानना साम्यभाव से सहन करने से तृण परीषहजय होता है।

(18) **मलधारण परीषहजय** – स्व और पर के द्वारा मल के अपचय और उपचय के संकल्प के अभाव को मलधारण परीषहसहन कहते हैं।

(19) **सत्कार पुरस्कार परीषहजय** - मान और अपमान में तुल्य भाव होना, सत्कार–पुरस्कार की भावना नहीं होना, सत्कार पुरस्कार परीषहजय है।

(20) **प्रज्ञा परीषहजय–** प्रज्ञा (बुद्धि) का विकास होने पर भी मद नहीं करना प्रज्ञा परीषह विजय है। 'मैं अंग पूर्व प्रकीर्णक आदि में विशारद हूँ, सारे ग्रंथों के अर्थ का ज्ञाता हूँ, अनुत्तरवादी हूँ, त्रिकाल विषयार्थवेदी हूँ, शब्द (व्याकरण), न्याय, अध्यात्म में निपुण हूँ, मेरे समक्ष सूर्य के सामने खद्योत के समान अन्यवादी निस्तेज हो जाते हैं, इस प्रकार विज्ञान का मद नहीं होने देना प्रज्ञापरीषहजय है।

(21) **अज्ञान परीषहजय–** अज्ञान के कारण होने वाले अपमान एवं ज्ञान की अभिलाषा को सहन करना अज्ञान परीषहजय है।

(22) **अदर्शन परीषहजय–** 'दीक्षा लेना आदि अनर्थक है, इस प्रकार मानसिक विचार नहीं होने देना, अदर्शन परीषह सहन है। संयम पालन करने में प्रधान, दुष्कर, तप तपने वाले, परम वैराग्य भावना से शुद्ध हृदययुक्त, सकल, तत्त्वार्थवेदी, अर्हदायतन, साधु और धर्म के प्रतिपूजक, चिरप्रव्रजित मुझ तपस्वी का आज तक कोई ज्ञान अतिशय उत्पन्न नहीं हुआ है। महोपवास करने वालों को प्रातिहार्य विशेष (चमत्कारी ऋद्धियाँ) उत्पन्न हुए थे, यह सब प्रलाप मात्र है, असत्य है, यह दीक्षा लेना व्यर्थ है, व्रतों का पालन निरर्थक है। इस प्रकार से चित्त में अश्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देना, अपने सम्यग्दर्शन को दृढ़ रखना, अदर्शन परीषहजय करना जानना चाहिये। तप के बल पर ऋद्धियों के उत्पन्न न होने पर जिन वचनपर अश्रद्धान नहीं करना अदर्शन परीषहजय है। इस प्रकार असंकल्पित (बिना संकल्प के) उपस्थित परीषहों को संक्लेश परिणामरहित सहन करने वाले

साधु के रागादि परिणाम रूप आस्रव का अभााव होने से महान् संवर होता है।

(VII) अनेक विध चारित्रः-

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धि
सूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति चारित्रम् (18)

सामायिक छेदोस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकार का चरित्र है।

संयम (चरित्र) का लक्षणः-

वदसमिदिकसायाणं, दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ। (465)

गो. सा. जीवकाण्ड

अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील (ब्रह्मचर्य) अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों का धारण करना ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, उत्सर्ग इन पांच समितियों का पालना, क्रोधादि चार प्रकार की कषायों का निग्रह करना, मन, वचन, कायरूप दण्ड का त्याग तथा पाँच इन्द्रियों का जय इसको संयम कहते हैं। अतएव संयम के पांच भेद हैं।

संयम की उत्पत्ति की कारणः-

बादरसंजलणुदये, सुहुमुदये समखये य मोहस्स।
संजमभावो, णियमा, होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं। (446)

बादर संज्वलन के उदय से अथवा सूक्ष्म लोभ के उदय से और मोहनीय कर्म के उपशम से अथवा क्षय से नियम से संयमरूप भाव उत्पन्न होते हैं ऐसा जिनेंद्र देव ने कहा है।

इसी अर्थ को दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं।

बादरसंजलणुदये, बादरसंजमतियं खु परिहारो।
पमदिदरे सुहुमुदये, सुहुमो संजमगुणो होदि। (467)

जो संयम के विरोधी नहीं हैं, ऐसे बादर संज्वलन कषाय के देशघाती

स्पर्द्धकों के उदय से सामायिक, छेदोपस्थापना परिहारविशुद्ध ये तीन संयम चारित्र होते है। इनमें से परिहार विशुद्धि संयम तो प्रमत्त और अप्रमत्त में ही होता है, किंतु सामायिक और छेदोपस्थापना, प्रमत्तादि अनिवृत्तिकरणपर्यन्त होते हैं। सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त संज्वलन लोभ के उदय से सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती संयम होता है।

जहाणादसंजमो पुण, उवसमदो होदि मोहणीयस्स।
खयदो वि य सो णियमा, होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्टं। (468)

यथाख्यात संयम नियम से मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से होता है ऐसा जिनेंद्र देव ने कहा है।

तदियकसायुदयेण य, विरदाविरदो गुणो हवे जुगवं।
विदियकसायुदयेण य, असंजमो होदि णियमेण। (469)

तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से विरताविरत- देशविरत-मिश्रविरत-संयमासंयम नाम का पाँचवाँ गुणस्थान होता है और दूसरी अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से असंयम (संयम का अभाव) होता है।

1. सामायिक संयम

संगहिद सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवो समुव्वहंतो सामाइयसंजमो होदि। (470)

उक्त व्रत धारण आदिक पांच प्रकार के संयम से संग्रहनय की अपेक्षा से एकयम-भेद रहित होकर अर्थात् अभेद रूप से ''मैं सर्व सावद्य का त्यागी हूँ। इस तरह से जो संपूर्ण सावद्य का त्याग करना इनको सामायिक संयम कहते हैं। यह संयम अनुपम है तथा दुर्लभ है और दुर्धर्ष है। इसके पालन करने वाले को सामायिक संयमी कहते हैं।

2. छेदोपस्थापना संयम

छेत्तूण य परियायं, पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
पंचजमे धम्मे सो, छेदोवट्ठावगो जीवो। (471)

प्रमाद के निमित्त से सामायिकादि से च्युत होकर जो सावद्य क्रिया के करने रूप सावद्य पदार्थ होती है उसका प्रायश्चित विधि के अनुसार छेदन करके जो जीव अपनी आत्मा को व्रतधारणादिक पाँच प्रकार के संयम रूप

में स्थापना करता है उसको छेदोपस्थापन संयमी कहते हैं।

3. परिहार विशुद्धि संयमी का स्वरूप

पंचसमिदो तिगुत्तो, परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं।
पंचेक्कजमो पुरसो, परिहारयसंजदो सो हु। (472)

पाँच प्रकार के संयमियों में से सामन्य-अभेदरूप से अथवा विशेष-भेद से सर्व-सावद्य का सर्वथा परित्याग करने वाला जो जीव पांच समिति और तीन गुप्ति को धारण कर उनसे युक्त रहकर सदा सावद्य को त्याग करता है उस पुरुष को परिहार विशुद्ध संयमी कहते हैं। अर्थात् जो इस तरह से सावद्य से सदा दूर रहता है जीव पाँच प्रकार के संयमियों में तीसरे परिहारविशुद्धि संयम का धारक माना जाता है। इसी का विशेष रूपः-

तीसं वासो जम्मे, वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले।
पच्चक्खाणं पढ़िदो, संझूणदुगाउयविहारो। (473)

जन्म से लेकर तीस वर्ष तक सदा सुखी रहकर पुनः दीक्षा ग्रहण करके श्री तीर्थंकर भगवान के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व तक अध्ययन करने वाले जीव के यह संयम होता है। इस संयम वाला जीव तीन संध्या कालों को छोड़कर प्रतिदिन दो कोश पर्यन्त गमन करता है, रात्रि को गमन नहीं करता और इसके वर्षाकाल में गमन करने का या न करने का कोई नियम नहीं है।

4. सूक्ष्मसाम्पराय संयम वाले का स्वरूपः-

अणुलोहं वेदन्तो, जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहुमसांपराओ, जहखादेणूणओ किंचि।। (474)

जिस उपशम श्रेणी वाले अथवा क्षपक श्रेणी वाले जीव के अणुमात्र लोभ-सूक्ष्मकृष्टि को प्राप्त लोभकषाय के उदय का अनुभव होता है। उसको सूक्ष्मसांपराय संयमी कहते हैं। इसके परिणाम यथाख्यात संयम से कुछ ही कम होते हैं, क्योंकि यह संयम दशवें गुणस्थान में होता है और यथाख्यात संयम ग्यारहवें से शुरु होता है।

5. यथाख्यात संयम का स्वरूपः-

उवसंते खीणे वा, असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि।
छदुमट्ठो व जिणो वा, जहखादो संजदो सो दु।। 475

अशुभ रूप मोहनीय कर्म के सर्वथा उपशम हो जाने से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के और सर्वथा क्षीण हो जाने से बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के तथा तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान वाले जीवों के यथाख्यात संयम होता है।

इस पूर्वोक्त प्रकार से भावसंवर के कारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, द्वादशानुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र इन सबका जो व्याख्यान किया, उस व्याख्यान में निश्चय रत्नत्रय को साधने वाला जो व्यवहाररत्नत्रय रूप शुभोपयोग है उसका निरूपण करने वाले जो वाक्य हैं वे तो पापास्रव के संवर में कारण जानने चाहिये। और जो व्यवहार रत्नत्रय से सिद्ध होने योग्य शुद्धोपयोग लक्षण निश्चय रत्नत्रय के प्रतिपादक वाक्य हैं पुण्य तथा पाप इन दोनों आस्रवों के संवर के कारण होते हैं यह समझना चाहिये। यहाँ सोमनामक राजसेठ कहता है कि हे भगवान्! ये जो पूर्वोक्त व्रत, समिति आदिक संवर के कारण हैं इनमें संवारनुप्रेक्षा जो है सो ही सारभूत है और वही इस जीव के आस्रव का संवर कर देगी फिर आपने जो विशेष प्रपंच/अधिक विस्तार से कथन किया है, इससे क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् नेमिचंद्रस्वामी देते हैं कि मन, वचन तथा काय इन तीनों की गुप्तिस्वरुप जो निर्विकल्प समाधि ध्यान है उसमें स्थित जो मुनि है उसके तो उस गुप्ति से ही पूर्ति अर्थात् संवर हो जाता है और उसमें असमर्थ जो जीव है उनके नाना प्रकार से संवर का प्रतिपक्षीभूत मोह उत्पन्न होता है इस कारण आचार्य व्रत आदि का कथन कराते हैं। *द्रव्य संग्रह पृ. सं. ११८*

निर्जरा की परिभाषा एवं भेद

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सड़दि णेया तस्सड्णं चेदि णिज्जरा दुविहा।। (36)
यथा कालेन तपसा च भुक्तरसं कर्मपुद्गलं येन।
भावेन सडति ज्ञेया तत्सडनं चेति निर्जरा द्विविधा।।

That Bhava (Modification of the soul) by which the matter of karma disappears in proper time after the fruits [of such karma] are enjoyed [is called Bhava-Nirjara], also [the destruction of karmic matter] through penances, [is known as Bhava-Nirjara] and that destruction [itself] [is knwon as Dravya-Nirjara], Thus Nirjara should be known of two kinds.

जिस आत्मा के परिणामरूप भाव से कर्मरूपी पुद्‌गल फल देकर नष्ट होते हैं वह तो भाव निर्जरा है और सविपाक निर्जरा की अपेक्षा से यथाकाल अर्थात् काललब्धिरूप काल से तथा अविपाक निर्जरा की अपेक्षा से तप से जो कर्मरूप पुद्‌गलों का नष्ट होना है सो द्रव्य निर्जरा है।

क्रम प्राप्त निर्जरा तत्त्व एवं उसके भेद का वर्णन इस गाथा में किया गया है। निर्जरा तत्त्व आस्रव तत्त्व के विरोधी तत्त्व हैं। इसलिए जिस वैभाविक भावों से आस्रव होता है उन वैभाविक भावों के निरोध रूप स्वाभाविक भावों से निर्जरा होती है। इस स्वाभाविक भाव को ही निर्जरा कहते हैं तथा इस भाव निर्जरा के कारण पूर्वबद्ध आंशिक कर्म का निष्कासन/गलन/पृथक्करण होने को द्रव्य निर्जरा कहते हैं। अन्य अपेक्षा निर्जरा दो की है। यथा- 1. सविपाक निर्जरा 2. अविपाक निर्जरा। स्थिति बंध समाप्त होने के बाद जो कर्म उदय में आकर क्षरण हो जाता है उसे ''सविपाक निर्जरा कहते हैं' यह निर्जरा मिथ्यादृष्टि के भी होती है। तपस्या माध्यम से स्थिति बंध से पहले कर्म को बलपूर्वक गलाकर क्षरण कर देना 'अविपाक निर्जरा' है। यह निर्जरा सम्यग्दृष्टि के होती है तथा मोक्ष में कारण भूत होती है।

गाथा में 'तवेण य' अर्थात् तप से भी यह शब्द देकर आाचार्य श्री ने यह सिद्ध किया है कि तप के माध्यम से संवर भी होता है और विशेष अविपाक निर्जरा भी होती है। तत्वार्थ सूत्र में कहा भी है।

तपसा निर्जरा च (13)

By Penance (austerity) dissociation also.

By austerities is caused shedding of Karmic matter and (also stoppage of inflow)

तप से संवर और निर्जरा होती है।

यद्यपि तप दस धर्मों में अंतर्भूत है फिर भी विशेष रूप से निर्जरा का कारण बताने के लिए अर्थात् तप भी निर्जरा का कारण है, इस बात को

निरूपित करने के लिए तप का पृथक् ग्रहण किया गया है।

अथवा, सर्व संवर के हेतुओं में ही तप प्रधान हेतु है इसका ज्ञान कराने के लिए तप को पृथक् ग्रहण किया गया है।

पंचास्तिकाय प्राभृत में कहा गया है–

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविदेहिं।
कम्माण णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ।। (144)

निर्मल आत्मा के अनुभव के बल से शुभ तथा अशुभ भावों का रूकना संवर है। निर्विकल्प लक्षणमयी ध्यान शब्द से कहने योग्य जो शुद्धोपयोग है सो योग है। शुद्धात्मानुभव के सहकारी कारण बाह्य छह प्रकार के तप– अनशन अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश हैं तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान से छह तप स्वाभाविक शुद्ध अपने आत्मा के स्वरूप में तपने रूप अभ्यन्तर तप हैं। जो साधु संवर और योग से युक्त हो बारह प्रकार तप का अभ्यास करता है। वह बहुत से कर्मों की निर्जरा अवश्य कर लेता है। यहाँ यह भाव है कि बारह प्रकार तप के द्वारा वृद्धि को प्राप्त जो वीतराग परमानंदमयी एक शुद्धोपयोग सो भाव निर्जरा है। यही भाव द्रव्यकर्मों को जड़मूल से उखाड़ने को समर्थ है। यह शुद्धोपयोग के बल से पूर्व में बांधे हुए कर्म पुद्गलों का रस रहित होकर संवर पूर्वक एक देश झड़ जाना सो द्रव्य निर्जरा है।

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं।। (54)

जो कोई शुभ व अशुभ रागादिरूप आस्रव भावों को रोकता हुआ संवर भाव से युक्त है तथा त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्त्व को समझकर अन्य प्रयोजनों से अपने को हटाकर शुद्धात्मानुभव रूप केवल अपने कार्य को साधने वाला है व जो सर्व आत्मा प्रदेशों में निर्विकार नित्य आन्दमयी एक आकार में परिणमन करते हुए आत्मा को रागादि विभाव भावों से रहित स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जानकर निश्चल आत्मा की प्राप्ति निर्विकल्प

रूप ध्यान से निश्चय से गुण-गुणी के अभेद से विशेष भेदज्ञान में परिणमन स्वरूप ज्ञानमयी आत्मा को ध्याता है सो परमात्मध्यान का ध्याने वाला कर्मरूप रज की निर्जरा करता है। वास्तव में ध्यान ही निर्जरा का कारण है ऐसा इस सूत्र में व्याख्यान किया गया है यह तात्पर्य है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी।। (146)

शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्य परिणति सो यथार्थ ध्यान है। इस ध्यान के प्रगट होने की विधि अब कही जाती है।

जब वास्तव में योगी, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक पुद्गल कर्म होने से उस विपाक को अपने से भिन्न ऐसे अचेतन कर्मों में संकुचित करे, तदनुसार परिणति से उपयोग को व्यावृत्त करके उस विपाक के अनुरूप परिणमन में से उपयोग का निवर्तन करके मोही, रोगी और द्वेषी न होने वाले ऐसे उस उपयोग का अत्यंत शुद्ध आत्मा में ही निष्कंपरूप से लीन करता है, तब उस योगी को जो कि अपने निष्क्रिय चैतन्यरूप स्वरूप में विश्रांत है, वचन-मन काय को नहीं भाता अनुभव करता और स्वकर्मों में व्यापार नहीं कराता उसे सकल शुभाशुभ कर्मरूप ईंधन को जलाने में समर्थ होने से अग्निसमान ऐसा, परमपुरुषार्थ की सिद्धि का उपायभूत ध्यान प्रगट होता है।

यहाँ पर जो संवरपूर्वक निर्जरा है, उसी को ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि वही मोक्ष का कारण है और जो अज्ञानियों के निर्जरा होती है वह तो गजस्नान (हाथी के स्नान) के समान निष्फल है। क्योंकि, अज्ञानी जीव थोड़े कर्मों की तो निर्जरा करता है और बहुत से कर्मों को बांधता है। इस कारण अज्ञानियों की सविपाक निर्जरा का यहाँ ग्रहण नहीं करना चाहिये तथा जो सराग सम्यग्दृष्टियों के निर्जरा हैं वह यद्यपि अशुभ कर्मों का नाश करती है और शुभ कर्मों का नाश नहीं करती तथापि संसार की स्थिति को अल्प करती है अर्थात् जीव के संसार परिभ्रमण को घटाती है। उसी भव में तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्यबंध का कारण हो जाती है और परंपरा से मोक्ष की कारणभूत है और जो वीतराग सम्यग्दृष्टि है उनके पुण्य तथा पाप दोनों का नाश होने पर

उसी भव में वह सविपाक निर्जरा मोक्ष की कारण हो जाती है सो ही श्रीमान् कुन्दकुन्द आचार्य देव ने कथन किया है–

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसदसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेदि उस्सासमित्तेण।। (1)

अज्ञानी जिन कर्मों को एक लाख करोड़ भवों में नाश करता है उन्हीं कर्मों को ज्ञानी जीव मनो–वचन–काय की गुप्ति का धारक होकर एक उच्छ्‌वास मात्र में नष्ट कर देता है।

शंका– जो सम्यग्दृष्टि है उनके वीतराग यह विशेषण किसलिए लगाया गया है?

समाधान – अंधकार में दो पुरुष हैं, एक हाथ में दीपक लिए हुए हैं दूसरा बिना दीपक है। वह दीपक रहित पुरुष न तो कूपके पतन को जानता है न सर्प आदि को जानता है इसलिए वह अंधकार में कुएं आदि में अज्ञान से गिर जावे तो दोष नहीं है। तथा जिसके हाथ में जो दीपक है वह मनुष्य यदि कूपपतन आदि से नष्ट हो जाये तो उसके हाथ में जो दीपक था उसका कोई फल नहीं हुआ और जो उस अंधकार में दीपक के प्रकाश से कूपपतन आदि को छोड़ता है उसके दीपक के फल है। इसी दृष्टांत के अनुसार कोई मनुष्य तो ''राग आदि हेय है मेरे नहीं है'' इस प्रकार के भेदविज्ञान को नहीं जानता है वह तो कर्मों से बंधता ही है और दूसरा मनुष्य भेद विज्ञान के उत्पन्न होने पर भी जितने अंशों से रागादिक का अनुभव करता है अपने अंशों से वह भेदविज्ञानी पुरुष भी बांधता ही है और उसके रागादि भेदविज्ञान का फल भी नहीं है और जो जीव राग आदिक में भेद विज्ञान होने पर राग आदि का त्याग करता है उसके भेदविज्ञान का फल है यह जानना चाहिये। सो ही कहा है– ''नेत्रों से देखने का फल सर्प आदि के दोषों से मार्ग में बचना ही है, और जो नेत्र द्वारा सर्प आदि को देखकर भी सर्प के बिल में पैर धरता है उसके नेत्रों का होना व्यर्थ है।

मोक्ष की परिभाषा एवं भेद

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो।

णेयो स भाव मोक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो।। (37)

सर्वस्य कर्मणो यः क्षयहेतुः आत्मनः हि परिणामः।

ज्ञेयः स भाव मोक्षो द्रव्यविमोक्षयः कर्मपृथग्भावः।।

That modification of the soul which is the cause of the destruction of all Karmas, is surely to be known as Bhava-moksha and (actual) sepration of the Karmas (is) Dravya-moksha.

सब कर्मों के नाश का कारण जो आत्मा का परिणाम है उसको भावमोक्ष जानना चाहिये और कर्मों की जो आत्मा से सर्वथा भिन्नता है वह द्रव्य मोक्ष है।

अभेद रत्नत्रय रूप स्वशुद्ध परिणाम या परमयथाख्यात चारित्र को भाव मोक्ष कहते हैं। क्योंकि इसके द्वारा ही समस्त द्रव्य कर्मों का क्षय होता है। इस भाव मोक्ष द्वारा जो समस्त द्रव्य कर्मों का समग्र रूप से आत्मा से पृथक्करण होता है उसे द्रव्य मोक्ष कहते हैं। मोक्ष तत्व का वर्णन करते हुए आचार्य उमास्वामी ने कहा भी है–

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्षः (2)

Liberation (is) the freedom from all karmic matter, owing to the non-existence of the cause of bondage to the shedding (of all the karmas)

बंध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यान्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप बंध के कारणों का निरोध/अभाव हो जाने का नूतन कर्मों का आना (आस्रव) रूक जाता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता ही है।

तप आदि निर्जरा के कारणों का सन्निधान (निकटता) होने पर पूर्व अर्जित संचित कर्मों का विनाश हो जाता है।

प्रश्न– कर्मबंध–संतान जब अनादि है तो उसका अंत नहीं होना

चाहिए? क्योंकि जो अनादि होता है उसका अंत नहीं होता तथा दृष्ट विपरीत (प्रत्यक्ष से विपरीत) की कल्पना करने का प्रमाण का अभाव होता है।

उत्तर– अनादि होने से अंत नहीं होता ऐसा नहीं हैं क्योंकि जैसे बीज और अंकुर की संतान अनादि होने पर भी अग्नि से अंतिम बीज के जला देने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं, उसी प्रकार ध्यानाग्नि के द्वारा अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि कर्मबंध के कारणों को भस्म कर देने पर भवांकुर का उत्पाद नहीं होता अर्थात् भवांकुर नष्ट हो जाता है यही मोक्ष है। इस दृष्ट बात का लोप नहीं कर सकते। कहा भी है जैसे–

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुर।।

''बीज के जल जाने पर अंकुर उत्पन्न नही होता, उसी प्रकार कर्म बीज के जल जाने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता है।''

कृत्स्न (संपूर्ण) कर्म का कर्म अवस्था रूप से क्षय हो जाना कर्मक्षय है, क्योंकि ''सत्'' द्रव्य का द्रव्यत्वरूप से विनाश नहीं है किंतु पर्यायरूप से उत्पत्तिमान होने से उनका विनाश होता है। तथा पर्याय, द्रव्य को छोड़कर नहीं है अतः पर्याय की अपेक्षा द्रव्य भी व्यय को प्राप्त है, ऐसा कह दिया जाता है। क्योंकि पर्यायें उत्पन्न और विनष्ट होती है अतः पर्यायरूप से द्रव्य होता है। अतः कारणवशात् कर्मत्वपर्याय को प्राप्त पुद्गल द्रव्य का कर्मबंध के प्रत्यनीक (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप) कारणों के सन्निधान होने पर उस कर्मत्व पर्याय की निवृत्ति होने पर उसका क्षय हो जाता है उस समय वह पुद्गल द्रव्य अकर्म पर्याय से परिणत हो जाता है। इसलिये कृत्स्न कर्म क्षय को मुक्ति कहना युक्त ही है।

हेदुमभावे णियगा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो।। 50
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य।
पावदि इन्दियरहिदं अव्वाबाहंसुहमणंतं।। 51

पंचास्तिकाय प्राभृत

कर्मों के आवरण में प्राप्त संसारी जीव का जो क्षायोपशमिक विकल्परूप भाव है वह अनादिकाल से मोह के उदय के वश रागद्वेष मोहररूप परिणमता हुआ अशुद्ध हो रहा है यही भाव है। अब इस भाव से मुक्त होना कैसे होता है सो कहते हैं। जब यह जीव आगम की भाषा से काल आदि लब्धि को प्राप्त करता है तथा अध्यात्म भाषा से शुद्ध आत्मा के सम्मुख परिणाम रूप स्वसंवेदन ज्ञान को पाता है तब पहले मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशम होने पर फिर उनका क्षयोपशम होने पर सराग सम्यग्दृष्टि हो जाता है। तब अर्हंत् आदि पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि के द्वारा पर आश्रित धर्मध्यानरूप बाहरी सहकारी कारण के द्वारा मैं अनंत ज्ञानादि स्वरूप हूँ इत्यादि भावना स्वरूप आत्मा के आश्रित धर्म ध्यान को पाकर आगम में कहे हुए क्रम से असंयत सम्यग्दृष्टि को आदि लेकर अप्रमत संयत पर्यंत चार गुणस्थानों के मध्य में से किसी भी एक गुणस्थान के दर्शनमोह को क्षयकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। फिर मुनि अवस्था में अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में चढ़कर आत्मा सर्व कर्म प्रकृति आदि से भिन्न है ऐसे निर्मल विवेकमयी ज्योति रूप प्रथम शुक्ल ध्यानका अनुभव करता है। फिर रोगाद्वेष रूप चारित्र मोह के उदय के अभाव होने पर निर्विकार शुद्धात्मानुभव रूप वीतराग चरित्र को प्राप्त कर लेता है जो चारित्र मोह के नाश करने में समर्थ है। इस वीतराग चारित्र के द्वारा मोहकर्म का क्षय कर देता है- मोह के क्षय के पीछे क्षीणकषाय नामक बाहरवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त काल ठहर कर दूसरे शुक्ल ध्यान को ध्याता है। इस ध्यान से ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय इन तीन घातियाकर्मों को एक साथ इस गुणस्थान के अंत में जड़ मूल से दूर कर केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टयस्वरूप भाव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स।। (152)

इस प्रकार वास्तव में इन (पूर्वोक्त) भावयुक्त भावमोक्षवाले भगवान् केवली को जिन्हें स्वरूपतृप्तपने के कारण कर्मविपाक कृत सुख, दुःख रूप विक्रिया नष्ट हो गयी है उन्हें- आवरण के प्रक्षीणपने के कारण, अनंत

ज्ञान दर्शन से संपूर्ण शुद्धज्ञानचेतनामयपने के कारण तथा अतीन्द्रियपने के कारण जो अन्यद्रव्य के संयोग से रहित है और शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यवृत्तिरूप होने के कारण जो कथंचित् 'ध्यान' नाम के योग्य है ऐसा आत्मा का स्वरूप आत्मा की निज दशा पूर्व संचित कर्मों की शक्ति का शातन (क्षीणता) अथवा उनका पतन (नाश) देखकर निर्जरा के हेतु रूप से वर्णन किया जाता है।

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो।। (153)

वास्तव में केवली भगवान् को, भावमोक्ष होने पर परम संवर सिद्ध होने के कारण उत्तर कर्म संतति निरोध को प्राप्त होकर और परम निर्जरा का कारणभूत ध्यान सिद्ध होने के कारण पूर्व कर्मसंतति की जिसकी स्थिति कदाचित् स्वभाव से ही आयु कर्म के जितनी होती है और कदाचित् समुद्घात विधान से आयु कर्म के जितनी होती है– आयु कर्म के अनुसार ही निर्जरित होती हुई अपुनर्भव सिद्धगति के लिए भव छूटने के समय होने वाला जो वेदनीय–आयु–नाम–गोत्ररूप कर्मपुद्गलों का जीव के साथ अत्यंत विश्लेष–वियोग है वह द्रव्यमोक्ष है।

ज्ञानावरणीय– दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय ये चार घातिया कर्मों के क्षय से अरहंत केवली बनते हैं। तीर्थंकर केवली समवशरण की विभूति के साथ उपदेश करके भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग का स्वरूप बताते हैं और सामान्य केवली गंधकुटी में विराजमान होकर भव्य जीवों को उपदेश देते हैं। तीर्थंकर केवली नियम से जघन्य रूप से नौ वर्ष एवं उत्कृष्ट रूप से अंतर्मुहूर्त अधिक 8 वर्ष कम, एक पूर्व कोटि वर्ष तक उपदेश करते हैं। अंत में समवसरण या गंधकुटी का विसर्जन होता है– दिव्य ध्वनि के द्वारा उपदेश देना भी संकोच हो जाता है और केवली योग निरोध करते हैं। जो मुनीश्वर 6 महिना आयु शेष रहते केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं और उनके नाम, गोत्र एवं वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक होती है वे केवली समुद्घात भी करते हैं। अंत में ''अ इ उ ऋ लृ'' इन पांच लघु अक्षर के उच्चारण काल प्रमाण अयोगी गुणस्थान (14वें) में जीव रहता है। उपान्त (द्विचरम, अंतिम

समय से पहले 1 समय) समय में 72 प्रकृतियों का एवं अंतिम समय में 13 प्रकृतियों का नाश करके जीव सिद्ध, बुद्ध-नित्य निरंजन बन जाता है।

गोम्मट्टसार में कहा भी है-

सीलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को, गय जोगो केवली होदि।। (65)

जो अठारह हजार शील के भेदों का स्वामी हो चुका है और जिसके कर्मों के आने के द्वार रूप आस्रव सर्वथा बंद हो गया है तथा सत्त्व और उदयरूप अवस्था को प्राप्त कर्मरूप रज की सर्वथा निर्जरा होने से उस कर्म से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख है, उस योगरहित केवली को चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली कहते हैं।

अट्ठविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठ गुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।। (68)

जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित हैं, अनतंसुखरूप अमृत के अनुभव करने वाले शांतिमय है, नवीन कर्मबंध के कारणभूत मिथ्यादर्शनादि भावकर्मरूपी अंजन से रहित हैं, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु ये आठ मुख्य गुण जिनके प्रगट हो चुके हैं, कृत्यकृत्य हैं- जिनको कोई कार्य करना बाकी न रहा है, लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं।

प्रश्न- अनादिकाल से मोक्ष को जाते हुए जीवों से जगत् की शून्यता हो जायेगी अर्थात् अनादिकाल से जो मोक्ष को जीव जा रहे हैं तो न्यून होते होते कभी न कभी जगत् में जीव सर्वथा न रहेंगे?

उत्तर- जैसे क्रम से जाते हुए जो भविष्यत् काल के समय हैं उनसे यद्यपि भविष्यतकाल के समयों की राशि में न्यूनता होती है तथापि उस समय राशि का अंत कदापि नहीं, इसी प्रकार मुक्ति में जाते हुए जीवों से यद्यपि जगत् में जीवराशि की न्यूनता होती है तथापि उस जीव राशि का अंत नहीं है। यदि ऐसा कहो तो यह शंका भी होती है कि पूर्वकाल में बहुत जीव मोक्ष को गए है तब इस समय जगत् की शून्यता क्यों नहीं दीख

पड़ती? तो इस प्रकार पर यह भी उत्तर है कि अभव्य जीव तथा अभव्य के समान भव्य जीवों को मोक्ष नहीं है। फिर जगत् की शून्यता कैसे होगी?

विश्व में जीवों की संख्या अनन्तानन्त है जो कि अक्षय अनन्त है। अनन्त का अर्थ है कि जिस राशि में आय नहीं होते हुए भी व्यय होने पर भी कभी अन्त नहीं होता है। अक्षय अनन्त का अर्थ है जो अनन्त कभी भी क्षय नहीं होता है। संसारी जीव राशि तो अक्षय अनन्तानन्त है परंतु निगोद शरीर में भी जो जीवराशि है वह भी अनन्तानंत है। अनंतकाल से अभी तक जो अनन्तानन्त जीव मोक्ष गए उसे भी अनंतगुणे जीव एक निगोद शरीर में रहते हैं। यदि चक्षु से नहीं दिखाई देने वाला निगोद शरीर में स्थित जीव राशि कितनी है यह तो छद्मस्थ की कल्पना से भी बाहर है। गोम्म्टसार जीवकांड में कहा भी है–

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण।। 196 पृ. 326

एक निगोद शरीर में वर्तमान जीव द्रव्यप्रमाण से अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा संख्या से अनन्तानन्त हैं। अर्थात् सर्व जीव राशि के अनन्त बहुभाग मात्र संसारी जीवों की राशि है। उसके असंख्यातवें भाग का प्रमाण जीव एक निगोद शरीर में सदा विद्यमान रहते हैं। वे अनन्तानन्त हैं ऐसा परमागम में कहा है। तथा वे सर्वजीव राशि के अनन्तवें भाग मात्र जो अनादिकाल से हुए सिद्ध जीव हैं उनसे अनन्तगुणे हैं। तथा समस्त अतीत काल के समयों से भी अनन्तगुणे हैं। इससे काल की अपेक्षा इस शरीर में निगोद जीवों की संख्या कही। क्षेत्र और भाव की अपेक्षा उनकी संख्या आगम के अनुसार कहते हैं। समस्त आकाश के प्रदेशों से और केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों से अनन्तगुणा हीन हैं तथा लोकाकाश के प्रदेशों से और सर्वावधिज्ञान के विषयभूत भावों से अनंत गुणित है। परमागम में उनकी संख्या को जिन भगवान् के द्वारा दृष्ट कहा है इसलिए कोई विरोध नहीं है।

शंका– आठ समय और छह मास में छह सौ आठ जीवों के कर्मों का क्षय करके सिद्ध होने पर सिद्ध राशि की वृद्धि देखी जाती है और संसार जीवराशि की हानि देखी जाती है। तब कैसे सर्वदा एक शरीर में रहने वाले

निगोद जीव सिद्धों से अनन्तगुणे हो सकते हैं? तथा काल के समयों का समूह सर्व जीवराशि से अनन्तगुणा। अतः अपने योग्य अनन्त भाग काल बीतने पर संसारी जीव राशि का क्षय और सिद्धराशि की वृद्धि सुघटित है।

समाधान– उक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि केवल ज्ञान रूप दृष्टि के केवलियों के द्वारा और श्रुतज्ञान रूप दृष्टि से श्रुतकेवलियों के द्वारा सदा देखा गया भव्य संसारी जीव राशि का अक्षयपना अति सूक्ष्म होने से तर्क का विषय नहीं है। तथा जो तर्क प्रत्यक्ष और आगम से बाधित है और वह प्रमाण नहीं है। जैसे अग्नि शीतल होती है क्योंकि द्रव्य है जो द्रव्य होता है वह शीतल होता है जैसे जल। धर्म मरने पर दुःख देता है पुरुष के आश्रित होने से जो-जो पुरुष के आश्रित होता है वह-वह दुःखदायी होता है जैसे अधर्म। ये तर्क प्रत्यक्ष और आगम से बाधित है।

शंका– तब तर्क से बाधित आगम को कैसे प्रमाण माना जा सकता है?

समाधान– नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण और अन्य तर्कों से संभावित आगम के अविसंवादि होने से उसका प्रामाण्य सुनिश्चित है। तथा आपका तर्क प्रत्यक्ष और आगम का विरोधे होने से अप्रमाण है।

शंका– तब वह कौन-सा है, जिससे आगम का प्रामाण्य निश्चित है?

समाधान– समस्त भव्य संसारी जीव राशि अनंतकाल बीतने पर भी क्षय को प्राप्त नहीं होती क्योंकि वह अक्षय अनंत प्रमाण है। जो जो अक्षयानंत होता है वह अनंतकाल में भी क्षय को प्राप्त नहीं होता है। जैसे इतने हैं इस रूप से परिमित होने पर भी तीन काल के समयक भी समाप्त नहीं होते। ये सब द्रव्यों की पर्याय अथवा अविभाग प्रतिच्छेदों का समूह कभी समाप्त नहीं होता। इस प्रकार अनुमान का अंग जो तर्क है उसका प्रामाण्य सुनिश्चित है।

उपर्युक्त विषय को सुगम बनाने के लिए उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूं। 1. संख्या को 10, 100, 1000, आदि से विभाजन 1/10, 1/100, 1/1000 करते जाने पर भी कभी भी भाज्य एक 1 संख्या पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होगी। इस प्रकार तीन वर्ग मूल भी समाप्त नहीं होगा।

पुण्य एवं पाप के स्वरूप एवं प्रभेद

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउणामं गोदं पुण्णं पराणि पावं च। 38
शुभाशुभभाव युक्ताः पुण्यं पापं भवंति खलु जीवाः।
सातं शुभायुःनाम गोत्रं पुण्यं पराणि पापं च।।

The Jivas consist of Punya and Papa surely having auspicious and inauspicious Bhavas (respectively). Punya is Satavedaniya, auspisious life, name and class, While Papa is (exactly) the opposite (of these).

शुभ तथा अशुभ परिणामों से युक्त जीव पुण्य और पाप रूप होते हैं। सातावेदनी, शुभ आयु, शुभ नाम तथा उच्च गोत्र नामक कर्मों की जो प्रकृतियाँ हैं, वे तो पुण्य प्रकृतियाँ है और शेष सब पाप प्रकृतियां हैं।

इस गाथा में आचार्य श्री ने आस्रव एवं बंध के उत्तर भेद स्वरूप पुण्य-पाप का स्वरूप एवं उसके भेद-प्रभेद का कथन किया है। 'सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पांवहवति खलु जीवा' अर्थात् शुभ एवं अशुभ भावों से युक्त होकर जीव निश्चय से पुण्य पाप रूप में परिणमन करता है यह प्रतिपादन करके आचार्य श्री ने भाव पुण्य एवं भाव पाप का प्रतिपादन किया है। अर्थात् जो शुभोपयोग से युक्त जीव है वह पुण्य जीव है और जो अशुभोपयोग से युक्त जीव है वह पाप जीव है। शुभोपयोग का आरंभ वस्तुतः सम्यग्दर्शन होने के बाद अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान में होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में शुभोपयोग नहीं हो सकता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना शुभोपयोग संभव नहीं है। गोम्मट्टसार में कहा भी है-

जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा।
वदसहिदा वि य पावा, तव्विरीया हवंति त्ति।। 622

जीव के दो भेद हैं- एक पुण्य और दूसरा पाप। जो सम्यक्त्व गुण से या व्रत से युक्त है उनको पुण्य जीव कहते हैं और इससे जो विपरीत हैं उसको पाप कहते हैं।

'मिच्छाइट्ठी पावा' – मिथ्यादृष्टि पाप जीव है।

इससे सिद्ध होता है कि वैभवशाली राजा, महाराजा, देव भी मिथ्यात्व से सहित है तो पापी जीव है परंतु सम्यग्दर्शन से सहित पशु, नारकी, गरीब मनुष्य भी पुण्यात्मा जीव है। वस्तुतः भाव पुण्य ही पुण्य है और भाव पुण्य के कारण जो कर्म परमाणु द्रव्य रूप में परिणमन करता है वह द्रव्य पुण्य है। ऐसे भाव पुण्य करने के लिए हमारे पूर्वाचार्य भी उपदेश करते हैं एवं प्रेरित करते हैं।

उद्वम मिथ्यात्वविषं भावय दृष्टिं च कुरु परां भक्तिम्।
भावनमस्काररतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि।। 1

वृहद्द्रव्य संग्रहः पृ. 124

मिथ्यात्व रूपी विष का वमन कर दो, सम्यग्दर्शन की भावना करो, उत्कृष्ट भक्ति को करो और भाव नमस्कार में तत्पर होकर सदा ज्ञान में लगे रहो।

पंचमहाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रहं परमम्।
दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तपः सिद्धिविधौ कुरूद्योगम्।। 2

पांव महाव्रतों की रक्षा करो, क्रोध आदि चार कषायों का पूर्ण रूप निग्रह करो, दुर्दांत प्रबल इन्द्रिय रूप शत्रुओं पर विजय करो तथा बाह्य और अभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का जो तप है उसको सिद्ध करने में उद्योग करो। इस प्रकार दोनों आर्याच्छन्दों से कहे हुए लक्षण सहित शुभ उपयोग रूप भाव परिणाम से तथा उसके विपरीत अशुभ उपयोग रूप परिणाम से युक्त परिणत जो जीव है वे पुण्य-पाप को धारण करते हैं अथवा स्वयं पुण्य पाप रूप हो जाते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र में कहा भी है-

शुभः पुण्यास्याशुभः पापस्य। 3

Asrva of 2 kinds : शुभ or good which is the inlet of virtue or meritorious karms अशुभ of bad which is the inlet of vice or demeritorious karmas.

शुभोपयोग पुण्य का और अशुभयोग पाप का आस्रव है।

शुभयोग पुण्य और अशुभ योग पापास्रव का कारण है। हिंसा, असत्यभाषण, वध आदि की चिंता रूप अपध्यान अशुभ योग है। हिंसा, दूसरे की बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण चोरी, मैथुन-प्रयोग आदि अशुभ काययोग है। असत्य भाषण, कठोर मर्मभेदी वचन बोलना आदि अशुभ वचन योग है। हिंसक परिणाम, ईर्ष्या, असूया आदि रूप मानसिक परिणाम अशुभ मनोयोग है।

अशुभ योग से भिन्न अनंत विषय विकल्प वाला शुभ योग है। जैसे- अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य पालन आदि शुभ काययोग है। अर्हन्त भक्ति तप की रुचि, श्रुत का विनय आदि विचार शुभ मनोयोग है। सत्य, हित- मित वचन बोलना शुभ वाग्योग है।

शुभ परिणाम- पूर्वक होने वाला योग शुभयोग है और अशुभ परिणामों से होने वाला योग अशुभ योग कहलाता है। 'पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। कर्मणः स्वतंत्र्य विवक्षायां पुनात्यात्मानं प्रीणयतीति पुण्यम्।

पारतन्त्र्यविवक्षायां करणत्वोपपत्तेः पूयतेऽनेनेति।
वा पुण्यम् तत्सद्वैद्यादि। तत्त्वार्थवार्तिके।

जो आत्मा को पवित्र करे या जिससे आत्मा पवित्र किया जाता है, वह पुण्य कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा आत्मा सुखसाता अनुभव करे, वह सातावेदनीय आदि कर्म पुण्य है। स्वतंत्र विवक्षा में जो आत्मा को पवित्र करता है, प्रसन्न करता है वह पुण्य है एवं कर्तृवाच्य से निष्पन्न पुण्य शब्द है। परातन्त्र्य विवक्षा में कारण साधन से पुण्य शब्द निष्पन्न होता है जैसे जिसके द्वारा आत्मा पवित्र एवं प्रसन्न किया जाता है, वह पुण्य है।

''तत्प्रतिद्वन्द्विरूपं पापम्। तस्यप्रतिद्वन्द्विरूपं पापमिति विज्ञायते। पाति रक्षत्यात्मानम् अस्माच्छुभपरिणामादिति पुण्यस्य पापभिधानमा तदसद्वेद्यादि।'' तत्त्वार्थवार्तिके

पुण्य का प्रतिद्वन्द्वी (विपरीत) पाप है। जो आत्मा को शुभ से रक्षा करे अर्थात् आत्मा में शुभ परिणाम न होने दे वह पाप कहलाता है, वह असातावेदनीय आदि पापकर्म है।

प्रश्न- जैसे सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी दोनों ही का अविशेषता

से तुल्य (समान) फल है प्राणी का परतंत्र करना, वैसे ही पुण्य-पाप दोनों ही आत्मा को परतंत्र करने में निमित्त कारण है। इन पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है, यह पुण्य (शुभ) है, यह अशुभ है, पाप है, यह तो केवल संकल्प मात्र भेद है।

उत्तर- पुण्य-पाप को सर्वथा एक रूप कहना उपयुक्त नहीं है क्योंकि सोने या लोहे की बेड़ी की तरह दोनों ही आत्मा की परतंत्रता में कारण है तथापि इष्टफल और अनिष्ट फल के निमित्त से पुण्य और पाप में भेद है। जो इष्ट गति, जाति, शरीर, इन्द्रिय विषय आदि का निवर्तक है, वह पुण्य है तथा जो अनिष्ट गति जाति, शरीर, इन्द्रियों के विषय आदि का कारण है वह पाप है। इस प्रकार पुण्यकर्म और पाप कर्म में भेद है। इनमें शुभ योग पुण्यास्रव का कारण है और अशुभ योग पापस्रव का।

शंका- सम्यग्दृष्टि जीव के तो पुण्य तथा पाप ये दोनों ही हेय (त्याज्य) हैं फिर वह पुण्य सम्पादन कैसे करता है?

समाधान- सम्यग्दृष्टि जीव भी निज शुद्ध आत्मा को ही भाता है। परंतु जब चारित्रमोह के उदय से उस निज शुद्ध आत्मा की भावना में असमर्थ होता है, तब दोषरहित परमात्मा स्वरूप जो अर्हन्त सिद्ध है तथा उनके आराधक जो आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं उनकी परमात्मा रूप पद की प्राप्ति के निमित्त और विषय तथा कषायों को दूर करने के लिए दान, पूजा आदि से अथवा गुणों की स्तुति आदि से परम भक्ति को करता है और भोगों की वांछा आदि निदानों से रहित जो परिणाम है उससे कुटुंबियों के पलाल के समान निरिच्छकपने से विशिष्ट पुण्य का आस्रव करता है। अर्थात् जैसे किसान जब चावलों की खेती करता है, तब उसका मुख्य उद्देश्य चावल उत्पन्न करने का रहता है और चावलों का जो पलाल (घास) उसमें उसकी वांछा नहीं रहती है, तथापि उसको बहुत-सा पलाल मिल ही जाता है। इसी प्रकार मोक्ष को चाहने वाले जीवों की वांछा बिना भी भक्ति करने से पुण्य का आस्रव होता है और पुण्य से स्वर्ग में इन्द्र, लोकान्तिक देव आदि की विभूति को प्राप्त होकर स्वर्ग संबंधी जो विमान तथा देव देवियों का परिवार है, उसको जीर्ण तृण के समान गिनता हुआ

महाविदेहों में जाकर देखता है क्या देखता है? ऐसा प्रश्न करो तो उत्तर यह है कि वह यह समवसरण है, ये वही श्री वीतराग सर्वज्ञ भगवान् है, ये वे ही भेद तथा अभेद रूप रत्नत्रय की आराधना करने वाले गणधर देव आदि है, जो कि पहले सुने जाते थे, वे आज प्रत्यक्ष में देखे ऐसा मानकर अधिकता से धर्म में दृढ़ बुद्धि को करके चतुर्थ गुणस्थान के योग्य जो अपनी अविरत अवस्था है भाव उसको नहीं छोड़ता हुआ भोगों का सेवन होने पर भी धर्मध्यान से देव आयु के काल को पूर्णकर स्वर्ग से आकर तीर्थंकर आदि पद को प्राप्त होता है और तीर्थंकर आदि पद को प्राप्त होने पर भी पूर्वजन्म में भावित की हुई जो विशिष्ट-भेद ज्ञान की वासना है, उसके बल से मोह को नहीं करता और मोह रहित होने से श्री जिनेन्द्र की दीक्षा को धारण कर पुण्य तथा पाप से रहित जो निज परमात्मा का ध्यान है उसके द्वारा मोक्ष को जाता है और जो मिथ्यादृष्टि है वह तो तीव्र निदान बंध के पुण्य से चक्रवर्ती, नारायण तथा रावण आदि प्रतिनारायणों के समान भोगों को प्राप्त होकर नरक को जाता है।

कुन्दकुन्द देव ने कहा भी है-

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो।। 9

प्रवचन सार पृ. स. 19

जब यह आत्मा शुभ या अशुभ राग भाव से परिणत होता है, तब जपा कुसुम या तमालपुष्प के लाल या काले रंग रूप परिणत स्फटित की भांति परिणाम स्वभाव होता हुआ स्वयं शुभ या अशुभ होता है और जब यह शुद्ध अराग (वीतराग) भाव से परिणत होता है, शुद्ध होता है तब अराग वीतराग स्फटिक की भांति परिणाम स्वभाव शुद्ध होता है उस समय आत्मा स्वयं ही शुद्ध होता है।

इस प्रकार जीव के शुभत्व, अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि वह अपरिणमन स्वभाव, कूटस्थ नहीं है।

देवजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मिय सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा।। (69 पृ. 158)

देव, यति और गुरु की पूजा में तथा दान में तथा सुशील में और

उपवासादिक में आत्मा शुभोपयोगात्मक है।

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचय जादि।

असुहो वा तध पावं तेसिमभावे णसं चयमत्थि। 156 पृ. 352

उपयोग आदि शुभ हो तो जीव पुण्य संचय को प्राप्त होता है और यदा अशुभ हो तो पाप संचय होता है। उन दोनों के अभाव में संचय नहीं होता।

जो जाणदि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।

जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहोतस्स।। (157)

जो अर्हन्तों, सिद्धों तथा अनगारों को जानता है और श्रद्धा करता है, और जीवों के प्रति अनुकंपा युक्त है, उसका वह उपयोग शुभ है।

कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार एवं प्रवचन सार के टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र ने तत्त्वार्थसार में पुण्यस्राव का कारण बताते हुए कहा है–

दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा।

वैयावृत्यं विनीतश्च जिनपूजार्जवं तथा।। 25

सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा।।

भूतव्रत्यनुकंपा व सद्देद्यास्त्रवहेतवः।। 26 तत्वार्थ सार

दया, दान, तप, शील, सत्य, शौच, इन्द्रिय दमन, क्षमा, वैयावृत्य, विनय, जिनपूजा, सरलता, सरागसंयम, संयमासंयम, भूतानुकंपा और व्रत्यनुकंपा ये सातावेदनीय के आस्रव के हेतु हैं।

पापास्रव के कारणभूत अशुभ योग का स्वरूप कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में निम्न प्रकार से किया है–

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चितदुट्ठगोट्ठिजुदो।

उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो। 158

जिसका उपयोग विषय कषाय में अवगाढ़ मग्न है, कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है, कषायों की तीव्रता में अथवा पापों में उद्यत है तथा उन्मार्ग में लगा हुआ है उसका वह उपयोग अशुभ है।

शुभोपयोग के अनेक भेद, प्रभेद होने से उनकी बंधने वाली प्रकृतियाँ भी अनेक हैं तथा अशुभोपयोग के भेद, प्रभेद अनेक होने के कारण उनके बंधने वाली प्रकृतियाँ भी अनेक हैं गोम्मट्टसार कर्मकांड में पुण्य एवं पाप प्रकृतियों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है–

पुण्य प्रकृतियां

सादं तिण्णेवाउं उच्चं णरसुरदुगं च पंचिंदी।
देहा बंधणसंघादांगोवंगाई, वण्णचओ। 41
समचउरवज्जरिसहं उवघादूणगुरुछक्क सग्गमणं।
तसबारसट्ठसट्ठी बादालमभेददो सत्था।। 42

गो.सार कर्म.

सातावेदनीय, तीन आयु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानूपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, पांचबंधन, पांच संघात, तीनअंगोपांग, वर्णचतुष्क, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रर्षभनाराचसंहनन, उपघात बिना अगुरुलघुषट्क, प्रशस्तविहायोगति, त्रस आदि बारह ये अड़सठ प्रकृतियाँ भेदविवक्षा से है तथा अभेद विवक्षा से पुण्य प्रकृतियाँ 42 ही हैं।

उपर्युक्त गाथा में कथित पुण्यप्रकृतियों में जो तीन आयु कही हैं, वे तिर्यंच, मनुष्य और देवायु हैं। वर्ण चतुष्क में- वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हैं, किंतु यहाँ शुभरूप वर्णादि चतुष्क को ही ग्रहण करना। इनके भेद करने पर वर्ण 5, गंध 2, रस 5 और स्पर्श 8 इस प्रकार 20 भेद होते हैं सो यह कथन भेदविवक्षा से है, लेकिन अभेविवक्षा में शुभ रूप वर्णादि चार ही ग्रहण के योग्य हैं। उपघात के बिना अगुरुलघुषटक अर्थात् अगुरुलघु-परघातउच्छवास-आतप और उद्योत ये 5 प्रकृतियाँ हैं। त्रस आदि 12 प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं- त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय यशस्कीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर। भेदविवक्षा से तो 68 प्रकृतियाँ कहीं और अभेद विवक्षा से 42 प्रकृतियाँ कहीं सो इसका अभिप्राय यह है कि पाँच बंधन और 5 सङ्घात, पाँच शरीरों के अविनाभावी है अतः उनकी पृथक् नहीं गिनने से 10 प्रकृतियाँ वे कम हो गयी। इस प्रकार इन 26 प्रकृतियों को कम कर देने पर अभेदविवक्षा में 42 ही प्रकृतियाँ रहती हैं एवं भेद विवक्षा से इन 26 का ही कथन होने से 68 प्रकृतियाँ हो जाती है। यहां पृथक-पृथक रूप से नाम गिनाकर पुण्य (प्रशस्त) प्रकृतियों का कथन किया गया है। इसी बात को एक संक्षिप्त सूत्र द्वारा तत्वार्थ सूत्र में उमास्वामी ने कहा है, ''सातावेदनीय, शुभआयु,

नामकर्म की शुभ प्रकृतियाँ तथा शुभगोत्र (उच्चगोत्र) ये पुण्यरूप हैं।''

पाप प्रकृतियां

घादीणीचमसादं णिरयाऊ णिरयतिरियदुग जादी
संठाणसंहदीणं चदुपणगं च वझणचओ।। (43)
उवघादमसग्गमणं थावरदसयं च अप्प सत्थाहु।
बंधुदयं पडि भेदे अडणउदि सयं दुचदुर सीदिदरे।। (44)

(गो.सा.कर्म.)

घातिया कर्म की 47 प्रकृति तथा नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, जाति 4, संस्थान 5, संहनन 5, (अशुभ) वर्णचतुष्क, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थारवादि 10 ये अप्रशस्त (पाप) प्रकृतियां हैं। भेद विवक्षा से बंध रूप 98 प्रकृतियां एवं उदयरूप 100 प्रकृतियाँ हैं। अभेदविवक्षा से वर्णादि कि 16 प्रकृति घटाने पर बंधन रूप 82 और उदयरूप 84 प्रकृतियां हैं।

यहां अप्रशस्त प्रकृतियों में घातियांकर्मों की प्रकृतियां कही गयी सो घातियां कर्म तो अप्रशस्तरूप ही हैं। उनकी 47 प्रकृतियां- ज्ञानावरण 5, दर्शनावरण 9, मोहनीय 28 और अन्तरायकी 5 हैं तथा नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि 4, जाति, समचतुरस्रसंस्थान बिना न्यग्रोधपरिमंडलादि 5 संस्थान, वज्रर्षभनाराचबिना वज्रनाराचादिक 5 संहनन, अशुभ वर्ण-गंध- रस-स्पर्श, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर अनादेय और अयशस्कीर्ति इस प्रकार वर्णादि की 16 कम करने पर उदयापेक्षा 84 प्रकृतियां तथा घातियांकर्म की 47 में से सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति कम कर देने से बंधापेक्षा 82 प्रकृतियां अप्रशस्त रूप कही है। भेद विवक्षा से वर्णादि की 16 मिलने पर बंधापेक्षा 98 एवं उदयापेक्षा सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्वप्रकृति मिलने से 100 प्रकृतियां पाप रूप (अप्रशस्त) कहीं हैं।

पुण्य के फल

पुनात्यात्मानं पूयतेनेनेति वा पुण्यम्। सर्वार्थसिद्धि

जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है।

धवल-सिद्धांत शास्त्र में वीरसेन स्वामी ने कहा है-

काणि पुण्य फलानि?
पुण्य के फल कौन से हैं?

तित्थयर–गणहर–रिसि–चक्कवट्टि

बलदेव–वासुदेव–सूर–विज्जाजरिद्धीओ।

तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं। सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया गया पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता यह नियम है। यदि सम्यग्दृष्टि पुरुष के द्वारा किए हुए पुण्य में निदान न किया जाय तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण होता है।

लद्धं जइ चरम तणु चिरकय पुण्णेण सिज्झए णियमा।

पाविय केवल णाणं जह खाइय संजमं सुद्धं।। 423

यदि वह जीव अपने चिरकाल के संचित किए हुए पुण्य कर्म के उदय से चरम शरीरी हुआ तो वह जीव यथाख्यात नाम के शुद्ध चारित्र को धारण कर तथा केवलज्ञान को पाकर नियम से सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई।

इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण।। 424

उपरोक्त कथनों से सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है, यही समझ कर गृहस्थों को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिए।

उवसामगो व खवगो वा।

सो सूहुमसांपराओ जहखादेणूणओ किंचि।। 474

जिस उपशम श्रेणी वाले अथवा क्षपकश्रेणिवाले जीव के अणुमात्र लोभ–सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त लोभकषाय के उदय का अनुभव होता है उसको सूक्ष्मसापराय संयमी कहते हैं। इसके परिणाम यथाख्यात चारित्र वाले जीव के परिणामों से कुछ ही कम होते हैं क्योंकि यह संयम दशवें गुणस्थान में होता है यथाख्यात संयम ग्यारहवें से शुरू होता है।